CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हिंदी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियां

(तीन व्याख्यान)

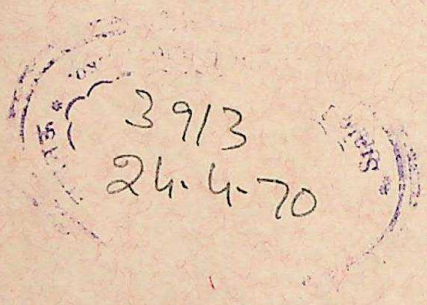

3913

रामस्वरूप चतुर्वेदी

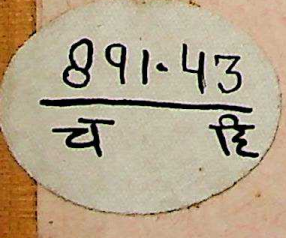

केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा-5

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

STATE MUSEUM, LUCKNOW
LIBRARY

Acc. No. 3913

Book No. 891.43
व हि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

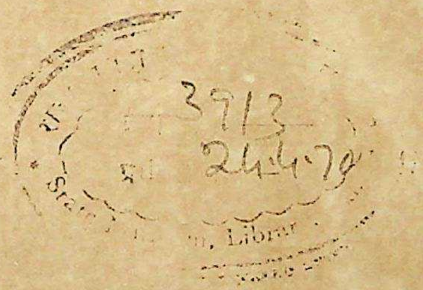

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हिंदी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियाँ

(तीन व्याख्यान)

रामस्वरूप चतुर्वेदी

केन्द्रीय हिंदी संस्थान,
आगरा–5

प्रकाशक :
केन्द्रीय हिंदी संस्थान,
नया आगरा,
आगरा-5

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

891.43
च हि

मूल्य : 2·00

तिथि :
अगस्त 1969

मुद्रक :
मेहरा आफसेट प्रेस
आगरा - 3

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

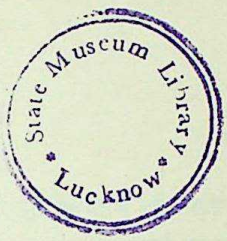

पाशो, विनोद और त्रिलोकीजी

के लिए

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आमुख

'प्रसार व्याख्यान माला' का आयोजन केन्द्रीय हिंदी संस्थान की एक अन्यतम गतिविधि है। 'व्याख्यान माला' के अंतर्गत विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ विद्वानों द्वारा समय-समय पर महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिये जाते रहे हैं। इन व्याख्यानों को प्रायः 'गवेषणा' के अंकों में सुविधानुसार प्रकाशित किया जाता रहा है। 1968-69 के सत्र से 'प्रसार व्याख्यान माला' को एक नया रूप देने का उपक्रम किया गया है। यह अनुभव किया गया कि प्रायः किसी विषय पर दिये गये एक व्याख्यान में न तो विषय के साथ समुचित न्याय हो पाता है, और न वक्ता और श्रोताओं को पूरा संतोष मिलता है। अतः यह उचित समझा गया कि विषय-विशेष पर समग्रता और परिपूर्णता लाने की दृष्टि से एक व्याख्यान के स्थान पर आवश्यकतानुसार एक से अधिक व्याख्यानों की माला आयोजित की जावे। 'प्रसार व्याख्यान माला' के इस संशोधित रूप का आरम्भ हिंदी भाषा और साहित्य के मान्य समालोचक और प्रयाग विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग प्राध्यापक डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी द्वारा प्रस्तुत व्याख्यान-माला में किया गया। डॉ. चतुर्वेदी ने 'हिंदी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियाँ' विषय पर जनवरी, 1969 में तीन व्याख्यान दिये। इन व्याख्यानों को 'गवेषणा' संयुक्तांक 11-12 में प्रकाशित किया गया और साथ ही, अलग पुस्तकाकार भी निकाला जा रहा है। 'प्रसार व्याख्यानों' के इस प्रकार प्रकाशन का यह क्रम इन्हीं व्याख्यानों से आरम्भ किया जा रहा है।

यह दावा नहीं किया जा सकता कि डॉ. चतुर्वेदी के व्याख्यानों में अधुनातन हिंदी साहित्य का सम्पूर्ण रूप में अध्ययन किया जा सका है। इस दिनानुदिन वर्धमान और मतवैभिन्य और वाद-प्रतिवाद से परिपूर्ण विषय के संपूर्ण अध्ययन का कभी भी दावा नहीं किया जा सकता। परन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि व्याख्यानदाता ने अधुनातन हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियों के आकलन में परिपूर्णता लाने के साथ-साथ दृष्टिकोण की तटस्थता बनाये रखने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है।

केन्द्रीय हिंदी संस्थान के विद्यार्थियों अध्यापकों और स्थानीय विद्वानों और साहित्यिकों के अतिरिक्त हिंदी के प्रसिद्ध कवि, आलोचक और पत्रकार श्री बालकृष्ण राव, जो केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल के अध्यक्ष भी हैं, डॉ. चतुर्वेदी के व्याख्यानों के विवेचक श्रोता थे। विद्वान वक्ता के व्याख्यानों का अंतिम रूप तैयार करने में निश्चय ही अपने श्रोताओं के विचार-विमर्श को ध्यान में रखा। समसामयिक और आधुनातन विषय की विवेचना के संबंध में प्रामाणिकता का अत्यधिक आग्रह नहीं किया जा सकता। परन्तु यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि डॉ. चतुर्वेदी द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण और विवेचन में जो प्रामाणिकता है, उससे अधिक की अपेक्षा करना संभव नहीं है।

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी के प्रति संस्थान आभार प्रकट करता है और आशा करता है कि इस प्रकाशन के द्वारा अधुनातन हिंदी साहित्य के पाठकों को जो दृष्टि और दिशा ढूंढ़ने में सहायता मिलेगी।

ब्रजेश्वर वर्मा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भूमिका

केन्द्रीय हिंदी संस्थान के आमंत्रण पर ये तीन व्याख्यान आगरा में जनवरी 1969 में दिये गये थे। इन व्याख्यानों में यह भाव नहीं रहा कि इनके माध्यम से आधुनिक हिंदी साहित्य का सर्वांगीण और संपूर्ण अध्ययन हो सकेगा। प्रयत्न यह रहा है कि आधुनिक साहित्य की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों का संक्षेप में ही सही परीक्षण और मूल्यांकन हो सके। इसी दृष्टि से कुछ प्रतिनिधि रचनाकारों के कृतित्व का भी विवेचन हुआ है। यह नामावली किसी क़दर संपूर्ण हो सके, यह महत्त्वाकांक्षा व्याख्यानदाता के समक्ष नहीं रही। आधुनिक भावबोध के संदर्भ में साहित्य के इस विवेच्य परिदृश्य के अंतर्गत अज्ञेय, और प्रवृत्तिगत दृष्टि से उनके समवर्त्ती तथा बाद के लेखकों को शामिल किया गया है। यदि बहुत से लेखकों का उल्लेख इस क्रम में नहीं होता, तो यह न माना जाये कि वे महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

इस यात्रा के दौरान केन्द्रीय हिंदी संस्थान के अध्यक्ष श्री बालकृष्ण राव, निदेशक डॉ. व्रजेश्वर वर्मा, प्रसिद्ध समीक्षक डॉ. रामविलास शर्मा तथा श्रीमती उमा राव के साथ व्याख्यानों की मूल वस्तु तथा संबद्ध विषयों पर काफी समय तक संवाद चलता रहा है, जिसका सुखद स्मरण इस अवसर पर उचित होगा। यदि व्याख्यानों के श्रोता, और अब पाठक के मन में इस माध्यम से नये साहित्य के प्रति कुछ भी रुचि और संस्कार जाग्रत होता है, तो यह श्रम अपने विनम्र रूप में सार्थक हो सकेगा।

इलाहाबाद
28 मार्च, 1969

रामस्वरूप चतुर्वेदी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रामस्वरूप चतुर्वेदी

हिंदी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियाँ

1. समकालीन जीवन प्रक्रिया और अज्ञेय का कृतित्व

आज यहाँ केन्द्रीय हिंदी-संस्थान के निमंत्रण पर "**हिंदी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियाँ**" शीर्षक विषय पर चर्चा करते समय अपने को विशेष प्रसन्नता की स्थिति में पाता हूँ। इसके पीछे कई कारण हैं, जिन में मुख्य है इस व्याख्यानमाला के संभाव्य श्रोताओं की प्रकृति। संस्थान में सारे देश के विविध भाषा-क्षेत्रों में विकसित युवा-मानस का प्रतिनिधित्व होता है, ऐसा मानस जो केवल सोचता ही नहीं, वरन् अध्यापक के रूप में संप्रेषण करना जिसका प्रमुख रूप से धर्म है। इस संप्रेषणशील मानस को अपनी विचार प्रक्रिया का सम-भागी बनाना निश्चय ही मेरे लिए एक सुखद अनुभव है। विचार-प्रक्रिया का जो रूप आपके समक्ष प्रस्तुत है, उसमें के कई अंश विविध रूपों में पहले भी प्रकाशित हुए हैं।

इस त्रिदिवसीय व्याख्यानमाला के अंतर्गत पहले दिन हम आधुनिक हिंदी साहित्य के केन्द्रीय व्यक्तित्व अज्ञेय के कृतित्व पर प्रमुख रूप से विचार करेंगे। अगले दिन अज्ञेय के समवर्ती रचनाकारों की चर्चा होगी, और फिर तीसरे दिन प्रयोगवाद या नयी कविता के बाद हिंदी साहित्य में कौनसी प्रवृत्तियाँ विकसित हुई हैं, इन पर हम लोग विचार करना चाहेंगे। इस प्रकार इस सीमित अवधि में भी हमारा यत्न होगा कि हिंदी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियों का हम समग्रतः निरीक्षण और परीक्षण कर सकें। व्याख्यानमाला के शीर्षक से ही स्पष्ट है कि हमें साहित्य की सारी समकालीन गतिविधि का परिचय नहीं पाना है, वरन् उन प्रवत्तियों को समझने का यत्न करना है, जो आधुनिक भाव-बोध का निर्माण करती हैं।

विवेचन को शुरू करते समय यह जरूरी होगा कि हम आधुनिक मानव-परिवेश की प्रकृति और रचना से उसके संबंध को समझें। यह मानना होगा कि मनुष्य सारे मूल्यों का स्रोत और उपादान है, और वह स्वयं ही उनके विघटन का भी कारण है। ईश्वरवादियों को भी यह उपपत्ति मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि मनुष्य ईश्वर की आकृति में ढला है या कि उसने ही ईश्वर को अपनी आकृति में ढाला है। बहरहाल, तत्वतः संबद्ध दोनों स्थितियों में कोई बड़ा भेद नहीं है। पर सहस्रों वर्षों में निर्मित और विकसित मानवीय मूल्य अब सर्वतः विघटित होते जा रहे हैं, यह हमारी वर्तमान सभ्यता की चिन्ता का केन्द्रीय विषय है। यों तो संक्रमण और मूल्यहीनता की स्थिति मानवीय इतिहास में अनेक बार आयी है—संक्रमण का रोना लगभग हर युग के इतिहासकार ने रोया है—पर यह मानना होगा कि अब तक के संक्रमण अपनी प्रकृति में

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh
संशोधन और सुधारपरक अधिक थे इसे आये. द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद से तो मूल्य संबंधी मौलिक आधार ही जैसे उखड़ गये हैं।

द्वितीय महायुद्ध को इस प्रसंग में तिथि जैसा मानने का कारण है। यह सर्वस्वीकृत है कि मूल्य-विघटन की इस स्थिति को लाने में विज्ञान और प्रविधि का सबसे अधिक हाथ है। एक बार यह मान लेने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय महायुद्ध के समय संबद्ध राष्ट्रों ने जैसे भीषण दबाव में जीवन-यापन किया, उसी में यह संभव था कि प्रतिद्वन्द्विता और आत्मरक्षा की भावना से प्रेरित होकर वे विज्ञान और प्रविधि का इतनी तेजी से विकास कर सके। अणुबम के विकास का जो इतिहास अब हमारे सामने है, उससे स्पष्ट है कि यदि द्वितीय महायुद्ध न होता तो अणुबम और अणुविद्या का विकास कई दशकों के बाद होता, शायद न भी होता, और यदि होता भी तो कुछ भिन्न रूप में होता। इस तरह अणुशक्ति के आविष्कार से लेकर अंतरिक्ष-यात्रा का आयोजन तक युद्धकालीन मनःस्थिति के दबाव में अधिक हुआ है। युद्धकालीन जीवन की क्षिप्रता और गति शांतिकालीन जीवन की तुलना में कहीं अधिक होगी, और उस युद्ध-काल के उखड़े हुए मूल्य—परिवार, धर्म, परंपरागत नैतिकता आदि के मौलिक संदर्भों में——फिर नहीं जम सके। क्योंकि महायुद्ध तो समाप्त हो गया, पर उसके स्थान पर आसानी से समाप्त न होने वाला शीत युद्ध आरम्भ हो गया। अमरीका, रूस, इंग्लैण्ड, फ्रांस और एशिया के अपेक्षया अविकसित देश भी अंदर-अंदर युद्ध के लिए अपने को तैयारी की हालत में रखते हैं। इस प्रकार युद्ध की मनोवृत्ति का दबाव कम नहीं हुआ, बढ़ा ही है। और इस मनोवृत्ति का प्रभाव-क्षेत्र फैलता जाता है। फलतः चाहे-अनचाहे भारी उद्योग और प्रविधि की लपेट भी फैलती जाती है। संकटकालीन स्थिति अब हमारी सामान्य स्थिति हो गयी है।

प्रविधि के विकास का एक सीधा परिणाम यह हुआ है कि गति बढ़ी है, और संसार की सीमाएँ संकुचित हुई हैं। इससे मनुष्य एक दूसरे के अधिकाधिक संपर्क में आया है। और यह मनुष्य का तेजी से बढ़ता हुआ संपर्क मूल्यहीनता की स्थिति का एक प्रधान कारण है। एक सीमा के बाद मनुष्य ही मनुष्य के लिए सबसे बड़ा खतरा हो जाता है। अधिकाधिक बार संपर्क होते रहने से मनुष्य की अनुभूति शक्ति का क्षरण होता है। लोहे को लोहा ही काट देता है। और अनुभूति के क्षरण का अर्थ है मानवीय सौहार्द में उत्तरोत्तर कमी तथा एक तरह की कठोरता का विकास, जिसका साक्ष्य हमारा समकालीन जीवन और साहित्य दोनों ही प्रस्तुत करते हैं। मनुष्य का मनुष्य से संपर्क बढ़ते हुए रूप में तनाव, द्वन्द्व या संघर्ष की मनःस्थिति को जन्म देता है, जो कि बौद्धिक चेतना-केन्द्रों के परस्पर संपर्क का स्वाभाविक परिणाम है, खास तौर से आधुनिक परिग्रही समाज में। अब से कोई बीस वर्ष पहले तक भारत का औसत मनुष्य अपने समूचे जीवन-काल में सौ-दो सौ व्यक्तियों से मिल पाता था। पर संचार के प्रत्यक्ष (रेल, मोटर, जहाज) और अप्रत्यक्ष (डाक-तार-टेलिफोन, समाचारपत्र, रेडियो, सिनेमा आदि) साधनों की सहायता से अब उसके परिचय और भावनात्मक संसक्ति का क्षेत्र कई सौ प्रतिशत बढ़ गया है। उन्नत देशों में तो इस परिचय और संसक्ति का विस्तार और भी तेजी से बढ़ा है। चेतना-केन्द्रों का यह तीव्र गति से बढ़ता हुआ संपर्क मानवीय अनुभूति पर बहुत बड़ा दबाव हो रहा है, जिससे अनुभूति का क्षरण होता है, और स्नायविक रोगों की बढ़ोतरी। कुल मिलाकर 'अनुभूति' के क्षेत्र में 'सनसनी' का प्रवेश तेजी से बढ़ता जा रहा है।

दूसरी ओर, बढ़ती हुई गति ने सारे मानवीय संबंधों और प्रतिमानों को अस्थिर कर दिया है। परिवार, धर्म, प्रेम और सामाजिक आचरण की अन्य मर्यादाएँ अनिश्चित हैं। यह इसलिए भी है कि जहाँ मनुष्य-मनुष्य से टकरा रहा है, वहाँ अनेक राष्ट्र और जातियाँ, उनकी जीवन-पद्धतियाँ और संस्कृतियाँ परस्पर टकरा रही हैं। इन प्रभावों, संघातों को उनकी बढ़ती हुई संख्या में आत्मसात् करना, समरस बनाना एक सीमा के बाद संभव नहीं लगता। फलतः संसार के विभिन्न क्षेत्रों के बीच परस्पर के संपर्क से जितनी समता विकसित होती

है, उससे कहीं अधिक संदर्भ और मानवीय अनुभूति की स्थिति में अनुपलब्धि का कारण मानव जीवन में आंतरिक अर्थ को विकसित नहीं होने देता। इसका परिणाम है अनर्थक, मूल्यहीन, अर्थहीन जीवन की स्थिति।

समकालीन साहित्य का नवीनतम अंश (भूखी-विद्रोही पीढ़ी, अन्यथावाद और अनर्थकता के आंदोलन, कथा-साहित्य में अनेक नामों के अंतर्गत "सेक्स" का बढ़ता हुआ मादन-भाव आदि) जहाँ तक इन स्थितियों का अंकन करता है, वह एक माने में सही और प्रामाणिक है। उसका मूल विद्रोह परंपरागत जीवन की अर्थ-हीनता को लेकर है, जो समझ में आता है। इस संदर्भ में किया गया अनेक सामाजिक स्थितियों का नितांत उघरा चित्रण उपलक्षण मात्र है। पर इस समूचे बिखराव में सार्थकता खोजना ही तो मनुष्य का लक्षण और दायित्व है। यह ठीक है कि जीवन में परंपरागत ढंग से प्रतिष्ठित अर्थ आज बेमानी, कृत्रिम और उबकाई लाने वाला लग सकता है। पर तब उचित होगा कि पुराने अर्थ को निरस्त करके हम नये अर्थ का सृजन करें, क्योंकि जीवन में अर्थ को नकार कर तो हम मानवीय जीवन के वैशिष्ट्य को ही नकारते हैं, और मनुष्य को सामान्य पशु के धरातल पर उतार देते हैं।

इस दृष्टि से समकालीन साहित्य के लिए सबसे बड़ी चुनौती अर्थहीन लगने वाले मानव जीवन में नये अर्थ-संदर्भों के निर्माण की है। ये अर्थ-संदर्भ सर्वथा नये हों, परंपरागत मान्यताओं से बिलकुल अलग हों, इस में एतराज नहीं हो सकता। पर जीवन के लिए और साहित्य के लिए—या कि समस्त सृजन के लिए ही—अर्थ-संदर्भ हो, यह मौलिक अनिवार्यता है। सृजन का उद्देश्य ही अर्थ का निर्माण है, उससे छुटकारा नहीं। इस प्रकार, अर्थहीनता मानवीय नियति नहीं है, वरन् अर्थ का सृजन मानवीय नियति है। जैविक धरातल का सृजन तो प्राणि-मात्र में समान है। इस जैविक सृष्टि के अंतर्गत संवेदनात्मक अर्थ का सृजन और संचरण मानवीय जीवन की विशिष्टता, इसलिए चरम मूल्य और दायित्व है। साहित्य इस सार्थकता की खोज का प्रमुख माध्यम रहा है, और अब भी है, क्योंकि धर्म, दर्शन अथवा विज्ञान की तुलना में उसकी प्रकृति और उसकी भाषा अधिक संपृक्त, अधिक मानवीय और इसीलिए अधिक सर्जनात्मक है। साहित्य इस स्तर पर अर्थ से साक्षात्कार का माध्यम नहीं, वरन् अर्थ से साक्षात्कार की प्रक्रिया है। अपने संश्लिष्ट रचना-संगठन के माध्यम से, अपने भाषिक अर्थों की टकराहट और उससे उत्पन्न वैविध्य और विस्तार से जीवन में सार्थकता की अनुभूति निष्पन्न कराते चलना ही साहित्य का मुख्य दायित्व और उपलब्धि है। अपने इस दायित्व को छोड़कर साहित्य साहित्य नहीं रह जाता, भले वह सामाजिक या राजनैतिक आंदोलन हो जाये या कि दिलचस्प किस्सागोई बन जाये या संप्रेषण की शक्ति से घोषित रूप में विरहित रूपाकार मात्र रह जाये। भूखी पीढ़ी, नयी कहानी या अकविता के लिए ये बहुत बड़े खतरे हैं, जिन्हें ठीक-ठीक समझने की कोशिश अभी प्रायः नहीं हुई है।

आधुनिक सभ्यता का गठन अधिकाधिक यंत्र को केन्द्र में रखकर हो रहा है। यंत्र में आवृत्ति और प्रसार की क्षमता है, संप्रेषण की नहीं। इसलिए यंत्र की सहायता से अधिकाधिक मनुष्य एक-दूसरे के संपर्क में तो आ रहे हैं, पर उनमें संप्रेषण और संप्रेषण से उत्पन्न आपसी समझदारी का अभाव होता जा रहा है। यंत्र से गति बढ़ी है, पर प्रायः अनुभावन शक्ति की कीमत पर। इस प्रसंग में तर्क किया जा सकता है कि मानवता के इतिहास में अभी तक गति तो उत्तरोत्तर बढ़ती ही रही है और उसके साथ क्रमशः समायोजन भी किया जाता रहा है। और तब फिर कोई कारण नहीं कि यह समायोजन भविष्य में भी संभव न हो।

इस तर्क में निश्चय ही शक्ति है और आप मुझे अनुमति देंगे कि हम लोग इस पर विचार कर सकें। वस्तुतः यह समूची स्थिति ही आधुनिक साहित्य की भाव-भूमि है, जिसे समझे बिना हम हिंदी केआधुनिक कृतित्व का सार्थक आस्वादन और सही मूल्यांकन नहीं कर सकते। इस संदर्भ में जो मुख्य विचारणीय बात है, वह यह कि मनुष्य की गति और उसकी अनुभावन-क्षमता के बीच, इतनी शताब्दियों के समायोजन के बाद, अब उलटे अनुपात की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी है। गति ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है—और वह उत्तरोत्तर तेजी से बढ़ती ही जाती

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh
है—त्यों-त्यों मनुष्य की अनुभावन-क्षमता क्षीणतर होती जाती है, क्योंकि उसकी धारण शक्ति की ही तरह अनुभावन शक्ति की भी अंततः एक सीमा है। पर दूसरी ओर मनुष्य बराबर एक दूसरे से संपर्क में अधिकाधिक आते जायेंगे, फलतः उनकी अनुभूति पर दबाव बढ़ता जायेगा, जिससे कि वह एक सीमा के बाद भोथरी होने लगेगी। इस दृष्टि से वन्य सभ्यता से कृषि सभ्यता और फिर औद्योगिक जीवन के आरम्भ तक मानवीय विकास की गति जो रही, वह औद्योगिक सभ्यता के अपने विकास को देखते हुए कुछ भी नहीं है। अब तो गति का होना ही गति के बढ़ने का कारण हो गया है। परंपरित शब्दावली का सहारा लेते हुए कहा जा सकता है कि भौतिक विकास ज्यामितिक गति से बढ़ रहा है, और अनुभावन क्षमता बमुश्किल अंकगणितीय गति से बढ़ पा रही है। अतः इन दोनों प्रकार की गतियों के बीच किसी समायोजन की संभावना नहीं दिखायी पड़ती। इस वैषम्य को देखते हुए, हमारी वर्तमान प्रविधि-प्रधान संस्कृति की समस्या है, यंत्र में मानवीय संस्पर्श लाना और यह देखना कि मशीन के संस्पर्श से मनुष्य भी यंत्र न हो जाये, व्यक्तित्व और अनुभूति से विहीन न हो जाये। इस खतरे की ओर पश्चिम के आल्डस हक्सले जैसे वैज्ञानिक-लेखकों ने तीव्र संकेत किया है। आधुनिक भारत के सर्वश्रेष्ठ मनीषी गांधी ने अपने समूचे जीवन में, और साहित्यकार जयशंकर प्रसाद ने अपनी उत्कृष्ट रचना 'कामायनी' में मानवीय सभ्यता के इस वर्तमान खतरे की ओर बड़ी क्षमता के साथ ध्यान आकृष्ट किया है।

भारत उद्योगीकरण के क्षेत्र में पिछड़ा हुआ है, और इस स्थिति की वजह से हमें इस बात की छूट और सुविधा है कि हम उन गलतियों से बच सकते हैं, जो यूरोप ने अपने विकास के दौरान की हैं। धार्मिक संस्कृति का कभी हमने विकास किया था, और अब वैज्ञानिक संस्कृति के परिष्कार का दायित्व हमारे ऊपर है। यह हमारे वश में है, और करणीय है। पर इसके लिए हमें इतिहास के दबाव को समझना होगा, और उसके प्रति सही प्रतिक्रिया करनी होगी। हमें इस रूप में विकास करना है, जिससे मनुष्य की अनुभूति और उसके व्यक्तित्व का क्षरण न हो। इसके लिए खतरे कई तरह के हैं। पहला खतरा यंत्र या प्रविधि-सभ्यता का है, जिसकी चर्चा हमने अभी की है, और जिसका एक मूर्त्त डरावना रूप आल्डस हक्सले की प्रसिद्ध कथाकृति 'दि ब्रेव न्यू वर्ल्ड' में अंकित हुआ है। एक दूसरा खतरा राजनैतिक स्तर पर सर्वसत्तावादी पद्धति का है, जिसका चित्रण अपेक्षया अधिक मनोरंजक ढंग से जॉर्ज ऑरवैल ने 'एनीमल फार्म' में किया है। इस व्यंग-कथा में एक ऐसे समाज का अंकन है, जिसमें सब लोग बराबर हैं, पर सबकी तुलना में कुछ लोग अधिक बराबर हैं। 'अधिक बराबरी' का यह मुहावरा अपने में जितना अर्थवान है, उतना ही तीखा भी। इन्हीं से संबद्ध कुछ और खतरे हैं, जैसे महानगरीय जीवन के, या कि प्रविधि-सभ्यता में अंतर्निहित गति के। और सबसे बड़ी बात यह कि मनुष्य को मनुष्य के खतरे से बचाना है। इस सबका उपाय एक ही है—मनुष्य, प्रकृति और यंत्र के बीच उचित अनुपात विकसित करना। मनुष्य का मनुष्य, प्रकृति और यंत्र से सही अनुपात में संबंध हो, यही काम्य है। मनुष्य न तो यंत्र से क्षरित हो और न मनुष्य से ही। नये समाज और संसार की यह केन्द्रीय समस्या है। इसे सुलझाने में साहित्य का गुणात्मक योग होना चाहिए।

आधुनिक साहित्य में व्यक्तित्व और उसकी सर्जनात्मकता की सबसे गहरी और सार्थक चिंतना अज्ञेय के कृतित्व में मिलती है। समकालीन जीवन के जिन खतरों की ओर अभी उल्लेख किया गया है, उनसे उबरने के लिए मनुष्य के सर्जनात्मक व्यक्तित्व को सुरक्षित रखते हुए विकसित करना ही, पुरानी शब्दावली में, आधुनिक जीवन का सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। सर्जनात्मक व्यक्तित्व मूलतः स्वाधीन होगा, और स्वाधीन होकर ही दायित्व का अनुभव किया जा सकता है। इसीलिए महायुद्ध में फ़ासिस्टों के विरुद्ध न्याय के पक्ष का समर्थन करने में दायित्व–स्वीकार के लिए गांधीजी ने भारतीय स्वाधीनता को पहली शर्त माना था। अज्ञेय ने अपने कृतित्व में बुनियादी तौर पर मानव व्यक्तित्व की इस स्वाधीनता, सर्जनात्मकता और दायित्व को सूक्ष्म और प्रभावी रूप में अंकित किया है। उनके काव्य, कथा-साहित्य, यात्रा-वृत्त, समीक्षा में यही मौलिक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri
दृष्टि सर्वत्र परिव्याप्त है और आधुनिक जीवन में उसकी क्षमता है कि वह नवीन सर्जन की शक्ति नहीं है। सर्जन व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य में ही संभव है--

यह अनुभव अद्वितीय, जो केवल मैंने जिया,
सब तुम्हें दिया।

"अनुभव अद्वितीय" संभव हो पाता है, क्योंकि अज्ञेय के अनुसार "ईश्वर ने मानव के रूप में अपनी प्रतिमा का निर्माण किया है। कुशल शिल्पी होने के नाते उसने प्रत्येक प्रतिमा भिन्न और अद्वितीय बनायी, भिन्न होने के कारण प्रतिमाएँ परस्पर प्रेम कर सकीं।" और प्रेम तथा उसकी वेदना में ही जैविक सृष्टि तथा कलात्मक सर्जन की प्रक्रिया गतिशील होती है। अज्ञेय की पंक्तियाँ हैं--

एक क्षण-भर और
लंबे सर्जना के क्षण कभी भी हो नहीं सकते।
बूँद स्वाती की भले हो
बेधती है मर्म सीपी का उसी निर्मम त्वरा से
वज्र जिस से फोड़ता चट्टान को।
भले ही फिर व्यथा के तम में
बरस पर बरस बीतें
एक मुक्ता रूप को पकते।

इस तरह अनुभव की अद्वितीयता, व्यक्तित्व (कोरा व्यक्ति नहीं) का वैशिष्ट्य और सर्जनात्मक क्षमता-मानवीय अस्तित्व और उसकी सार्थकता के यही मूल उपादान हैं। मृत्यु के आधुनिक अस्तित्ववादी आतंक और तज्जन्य अनर्थकता से सर्जनशील होकर ही उबरा जा सकता है।

अज्ञेय के कृतित्व में यह आधारभूत वस्तु अपने विभिन्न पक्षों और संदर्भों में अंकित हुई है। और बिडम्बना यह है कि मृत्यु के अस्तित्ववादी आतंक के समक्ष भारतीय जीवनप्रियता की मूल वस्तु को प्रतिपादित करने के बावजूद अज्ञेय को समकालीन समीक्षा में आँख मूंद कर "अस्तित्ववादी" घोषित किया जाता रहता है। यह सही है कि अस्तित्ववाद से अज्ञेय ने कुछ बौद्धिक उत्तेजना पायी हो, पर अपने समूचे उत्तर कालीन कृतित्व में लेखक का यत्न यही रहा है कि भारतीय परिस्थितियों में अस्तित्ववाद से कोई बड़ी और अधिक संगत दृष्टि विकसित की जाये। 'आँगन के पार द्वार' संकलन की कविताएँ, 'अपने-अपने अजनबी' शीर्षक उपन्यास तथा 'एक बूँद सहसा उछली' शीर्षक यात्रावृत्त--1960-61 में प्रकाशित इन तीनों कृतियों में माध्यमगत भिन्नता के बावजूद जीवन-प्रियता की मूल वस्तु अभिव्यक्त हुई है और तीनों ही रचनाओं में आस्था-आस्तिकता का एक सर्वथा नया स्तर उभरा है। यहाँ ईश्वर का भी साक्षात्कार सर्जन के रूप में होता है। 'अपने-अपने अजनबी' में सेल्मा की मृत्यु होने पर योके सोचती है--"ईश्वर भी शायद स्वेच्छाचारी नहीं है--उसे भी सृष्टि करनी ही है क्योंकि उन्माद से बचने के लिए सृजन अनिवार्य है, वह सृष्टि नहीं करेगा तो पागल हो जायेगा....।" "उन्माद से बचने के लिए सृजन अनिवार्य है"--यह महत्त्वपूर्ण उपपत्ति समूची रचना के केन्द्र में है। अज्ञेय के इस चिंतन में जीवन-प्रियता के भारतीय आधार को ईसाई आस्था-विशेषतः इटली के 'पिएर क्व वीर" मठ की प्रेरणा--और जापान की जेन पद्धति ने भी किसी सीमा तक समृद्ध किया है। और बाह्य प्रभावों को रचनात्मक भाव से आत्मसात् करने के लिए तो लेखक बराबर प्रस्तुत रहा है। "अरी ओ करुणा प्रभामय" की भूमिका में उसने कहा है--"प्रस्तुत संग्रह में अनुवादों को छोड़कर अन्य अनेक कविताओं में भी पूर्व के (और पश्चिम के भी क्यों नहीं ?) प्रभाव मिलेंगे, लेखक सभी का स्वीकारी है....बंद घर में प्रकाश पूर्व या पश्चिम या किसी भी निश्चित दिशा से आता है--

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
पर खुले आकाश में वह सभी ओर से समाया रहता है, इसमें उसका जीवनीशत्व है।"

ऐसे समृद्ध व्यक्तित्व से अज्ञेय ने पश्चिमी मृत्यु के आतंक को भारतीय जीवन-प्रियता और आस्था के सहारे अतिक्रमित करना चाहा है। इससे उनके कृतित्व का महत्त्वाकांक्षी रूप ही प्रमाणित होता है, जिसने भारतीय रचना-परंपरा को निश्चित रूप से समृद्ध किया है। सृजन के इस रहस्य की आत्मदान के रूप में व्याख्या रचनाकार ने 'आँगन के पार द्वार' में संकलित लंबी कविता "असाध्य वीणा" में की है, जो अपनी गठन में निराला की "राम की शक्ति-पूजा" से तुलनीय है। दोनों ही कविताओं में शक्ति और सृजन को अंतर और वाह्य की टकराहट में देखने का यत्न किया गया है। "शक्ति-पूजा" के अंत में है—

"होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन।
कह महाशक्ति राम के वदन में हुई लीन।"

और "असाध्य वीणा" को साधने वाला केशकम्वली अंत में कहता है—

"श्रेय नहीं कुछ मेरा :
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में—
वीणा के माध्यम से अपने को मैंने
सब कुछ को सौंप दिया था
सुना आपने जो वह मेरा नहीं,
न वीणा का था :
वह तो सब कुछ की तथता थी—"

"अपनी" और "सब कुछ की तथता" का यह अद्वैत निराला और अज्ञेय को गहरे संवेदनात्मक स्तर पर जोड़ता है। आत्मदान के माध्यम से "शक्तिपूजा" के राम शक्ति साधन करते हैं, और आत्मदान के ही माध्यम से "असाध्य वीणा" का कलावंत वीणा को साधता है। यही शक्ति और सृजन के रहस्य का साक्षात्कार है।

अज्ञेय के साथ-साथ डॉ० देवराज की रचनाओं में भी मानवीय सर्जन की समस्या को आलोकित करने का यत्न हुआ है—उनके शोध-ग्रंथ 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन' से लेकर उनके उपन्यास 'अजय की डायरी' तक। लेखक ने इसे "सर्जनात्मक मानववाद" कह कर अभिहित किया है। सर्जन की प्रकृति और प्रक्रिया को लेकर अज्ञेय और देवराज की दृष्टि में अंतर है—और प्रस्तुत उपपत्ति को लेकर होना ही चाहिए—पर केन्द्रीय समस्या एक जैसी है। नयी कविता और नवलेखन के अन्य प्रतिनिधि लेखकों की रचनात्मक क्षमता भी इस दिशा में गतिशील हुई है। और इस माने में कहा जा सकता है कि हिंदी के नये साहित्य ने अपने युग की मूल समस्या को ठीक-ठीक पहचाना है।

अज्ञेय ने मानवीय व्यक्तित्व की व्याख्या में भाषा को अनिवार्य तत्त्व माना है। भाषा उनके लिए माध्यम नहीं, अनुभव ही है। सर्जनात्मकता की समस्या से सतत जूझने वाले रचनाकार के लिए यह उचित है कि वह भाषिक सर्जन की क्षमता को गहरे ढंग से समझे। अज्ञेय की अधिकांश प्रसिद्ध कविताओं में भाषा और अनुभव के अद्वैत को व्याख्यायित करने का यत्न हुआ है। "कलगी बाजरे की", "शब्द और सत्य", "जितना तुम्हारा सच है" आदि कविताओं की मूल वस्तु सर्जन और भाषा का अंतर-संबंध ही है। अज्ञेय ने एक जगह लिखा भी है, "मैं उन व्यक्तियों में से हूँ—और ऐसे व्यक्तियों की संख्या शायद दिन प्रति दिन घटती जा रही है—जो भाषा का सम्मान करते हैं और अच्छी भाषा को अपने आप में एक सिद्धि मानते हैं" ('आत्म-नेपद', पृ. 240)। यहाँ "अच्छी भाषा" का अर्थ अलंकृत या चमकदार भाषा नहीं है, वरन् "अच्छी भाषा" की अच्छाई यही है कि वह भाषा और अनुभव के अद्वैत को स्थापित करे। अज्ञेय की काव्य भाषा उनकी इस मान्यता का समर्थन करती है। भाषा की अनेक भंगिमाओं को निखारते-निखारते उन्होंने भाषा का सबसे प्रभावी रूप

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

"मौन" के स्तर पर अनुभव किया है, पर वह "मौन" से वैशिष्ट्य नहीं तनाव व्यंजित होता है, ऐसा तनाव जो कलाकृति का आधार है—

तू काव्य :
सदा-वेष्टित यथार्थ
चिर-तनित,
भारहीन, गुरु
अव्यय ।
तू छलता है
पर हर छल में
तू और विशद अभ्रांत,
अनूठा होता जाता है ।

यहाँ काव्य द्वारा "छला जाना" संभव हो पाता है, क्योंकि वह "चिर-तनित" है और रचना का यह तनाव भाषिक द्वन्द्व की विकासमान अर्थ-प्रक्रिया से बनता है। इसीलिए कवि के अनुसार—

मौन भी अभिव्यंजना है :
जितना तुम्हारा सच है
उतना ही कहो ।

अज्ञेय के संदर्भ में यह "मौन" मितकथन है, कहने और कहने के बीच अनकहना है, तथा और गहरे स्तर पर आत्म-दान का भाव है, जहाँ बोलना मानो आक्रमण है, मौन ही अपने को दे देना है। समकालीन समीक्षा की यह एक और विडंबना है कि आत्मदान के लिए प्रतिश्रुत कवि अज्ञेय को अभी तक "व्यक्तिवादी" कहा जाता रहा है। समीक्षा के इस रूप में "व्यक्ति" और "व्यक्तित्व" के बीच भी विवेक नहीं किया गया। पर अज्ञेय के कृतित्व का वैशिष्ट्य व्यक्तित्व और भाषा के गहरे आयामों को अभिव्यक्ति देने में रहा है, कविता और कथा-साहित्य दोनों में ही।

पर यह तो उपलब्धि की बात हुई। प्रश्न अब यह है कि रचना की अगली संभावना कहाँ है ? नव-लेखन में एक दौर के बाद आज जो रचनात्मक बेचैनी और आकुलता है, वह आकर्षित तो करती है, पर आश्वस्त नहीं, क्योंकि उसने अपने लिए विकास की दिशा स्पष्ट नहीं की है। वह परंपरागत रँगे-चुँगे जीवन के अर्थ से ऊब कर अर्थ मात्र का प्रत्याख्यान करने लगती है, और इस प्रकार अपनी ही सार्थकता को नकार कर चलती है। जीवन तत्त्वतः अनर्थक है या नहीं, मूल प्रश्न यह नहीं है, और जीवन यदि अनर्थक है भी तो क्या ? प्रश्न यह है कि इस अनर्थकता को सार्थक और सर्जनशील, दूसरे शब्दों में मानवीय, कैसे बनाया जा सकता है ? जीवनगत अर्थ को एक नया रूपाकार देने का यत्न नये लेखकों ने अपने-अपने ढंग से किया है। इनमें से कुछ रचनाकारों का प्रयोग एक नये भाव-स्तर का है। वे विशिष्ट अनुभव के अंकन के लिए विशिष्ट जीवन का प्रत्याहार करके साधारण, औसत जीवन से अपनी वस्तु चुनते हैं। इस तरह वे मानव जीवन के किन्हीं विशिष्ट महिमामय पक्षों को महत्व न देकर, समूचे जीवन की ही प्रक्रिया को सार्थकता देते हैं। उनके लिए जीवन शृंगार, युद्ध या वीरत्व के अनुभव के बाद भी स्थगित नहीं होता। इस सामान्य जीवन की पहचान नये लेखकों की रचना-प्रक्रिया का विशिष्ट अंग है, जो समकालीन समाजवादी और जनतांत्रिक पद्धतियों के संदर्भ में निश्चय ही अधिक प्रगतिशील और तात्त्विक दृष्टि है। रघुवीर सहाय, मुक्तिबोध, सर्वेश्वर, लक्ष्मीकांत वर्मा, विपिन-कुमार अग्रवाल की कृतियाँ इस दिशा में नयी रचनात्मक क्षमता का उद्घाटन करती हैं। अज्ञेय ने अपनी कविताओं तथा उपन्यास-क्रम में जिस मानवीय व्यक्तित्व को समकालीन रचना में प्रतिष्ठित किया था, उसे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
इन रचनाकारों ने अभूतपूर्व विस्तार दिया है। संस्कृत काल में धीरोदात्त विशिष्ट व्यक्तित्व रचना के केन्द्र में था, उन्नीसवीं-बीसवीं शती के भारतीय पुनर्जागरण ने सामान्य और तिरस्कृत चरित्रों को विशिष्टता दी—मेघनाद, कैकेयी, एकलव्य और कर्ण को इस प्रक्रिया में महत्त्व मिला। पर आधुनिक साहित्य तक आते-आते चक्र पूरा घम जाता है। अब साधारण चरित्र के वैशिष्ट्य को नहीं, उसके साधारण जीवन को ही सार्थकता देने का प्रयत्न है। इसी को रघुवीरसहाय ने कहा है—"हम तो सारा का सारा लेंगे जीवन। 'कम से कम' वाली वात न हमसे कहिए।" "सारा का सारा जीवन" की विराटता को भी इन रचनाकारों ने परम आत्मीय वनाया है। मुक्तिबोध की पंक्तियाँ हैं—

ज़िंदगी में जो कुछ है, जो भी है
सहर्ष स्वीकारा है;
इसलिए कि जो कुछ भी मेरा है
वह तुम्हें प्यारा है।
गरवीली गरीवी यह, ये गंभीर अनुभव सव,
यह विचार वैभव सव;
दृढ़ता यह, भीतर की सरिता यह अभिनव सव
मौलिक है, मौलिक है,
इसलिए कि पल-पल में
जो कुछ भी जाग्रत है, अपलक है—
संवेदन तुम्हारा है॥

यहाँ 'गरवीली गरीवी' का प्रयोग वरवस ध्यान खींचता है, और भारतीय जिंदगी और समाज के एक बहुत बड़े नैतिक तत्त्व को उजागर करता है। नयी कविता इस 'सारे के सारे जीवन' और 'गरवीली गरीवी' का काव्य है। तुक, छंद, यहाँ तक कि भाषा की अपनी लय के अलावा संगीतात्मक लय तक को छोड़कर, वह कविता का अधिक से अधिक विशुद्ध और स्वायत्त रूप है।

इस प्रसंग में अज्ञेय और नयी कविता के पारस्परिक रचनात्मक संबंध को समझना जरूरी है। यह स्मरणीय है कि वर्तमान अर्थ में "नयी कविता" नामकरण अज्ञेय का किया हुआ है (आकाशवाणी से प्रसारित एक फीचर में, "नये पत्ते"—1953 में प्रकाशित)। और नये लेखकों की विशिष्ट गोष्ठी "परिमल" से भी अज्ञेय का निकट संबंध रहा है। सच तो यह है कि अज्ञेय और "परिमल" के निकट संबंधों ने मानो प्रयोगवाद से नयी कविता का संक्रमण संभव बनाया है। पर नयी कविता के साथ अज्ञेय के संबंधों में कभी-कभी तनाव भी आया है। यह जरूर है कि लेखक के मन में इस तनाव का अनुभव व्यक्तिगत अथवा व्यावहारिक स्तर पर न होकर रचनात्मक स्तर पर ही अधिक लगता है। इस प्रसंग में नये कवि को संवोधित एक कविता "नये कवि के प्रति" उल्लेखनीय है, जो पहले 'कल्पना' में छपी और फिर बाद में 'अरी ओ करुणा प्रभामय' में संकलित हुई। वस्तु के धरातल पर इस कविता में नये कवि के प्रति व्यंग, विद्रूप और आक्रोश की अभिव्यक्ति हुई है। इसे, और इस प्रकार की दो-एक अन्य कविताओं को लेकर नये लेखकों में एक विक्षोभ और उत्तेजना का वातावरण फैला, पर अज्ञेय इस विवाद में नहीं पड़े, और वह असुखद प्रसंग समाप्त हो गया।

नयी कविता के संक्रमण और विकास को अज्ञेय ने संभव बनाया, और उसे सहयोग दिया। पर बाद में उसकी चुनौती भी उन्होंने महसूस की, और इससे उनकी सर्जनात्मक क्षमता को प्रेरणा और उत्तेजना मिली है। अज्ञेय की उत्तरकालीन रचनाओं में संस्कृत और अंग्रेजी से प्रेरित भाषा के आभिजात्य से जो विमुखता है, उसके पीछे किसी हद तक रघुवीरसहाय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना और लक्ष्मीकांत वर्मा जैसे नये कवियों का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
नैतिक समर्थन समझा जा सकता है। नयी कविता की चुनौती से अज्ञेय को बल मिला, यह उनके व्यक्तित्व की प्रखर गतिशीलता और गहरी सर्जनात्मकता का ही प्रमाण है।

नयी कविता को लेकर अज्ञेय के संबंध––चाहे सहयोग से प्रेरित हों चाहे तनाव से––रचनात्मक स्तर पर अधिकतर गतिमय रहे हैं। और यह अज्ञेय के उदार व्यक्तित्व का साक्ष्य है कि प्रयोगवाद का प्रवर्तक नयी कविता के साथ है। "प्रयोगवाद" शब्द तो समीक्षकों द्वारा आरोपित किया गया था, पर जैसा कहा गया, "नयी कविता" शब्द का वर्तमान अर्थ में प्रयोग सबसे पहले अज्ञेय ने किया। यह अपने आप में एक स्पृहणीय स्थिति है कि एक ओर अज्ञेय ने नयी कविता को काफी दूर तक विकसित होने में सहायता दी, और दूसरी ओर स्वयं परवर्ती नये कवियों से उन्होंने रचनात्मक संघात पाया।

पर नयी कविता के बाद के अधिकतर लेखकों ने सामान्य, औसत जीवन के औसत अनुभवों को सार्थक ढंग से पकड़ने का जोखम नहीं उठाया। कविता, उपन्यास, और अधिकतर कहानियों में उनकी दृष्टि आधुनिकता के नाम पर महानगरों में चलने वाले पश्चिमी ढंग के तीखे, पर कृत्रिम और आधारहीन जीवन पर अधिक रही है। उनके अधिकतर वर्णन "कैफ़े" और "काबरे" की छोटी-सी दुनिया में सीमित हैं। वे भूल जाते हैं कि आधुनिकता मूलतः और अनिवार्यतः भाव-बोध और दृष्टि का स्तर है, स्थूल विषय या कथानक का नहीं। यह सही है कि कथानकों को बदलने से भी कुछ परिवर्तन घटित होता है, पर वह अपेक्षया सतही है। मूल बात तो उस कथानक के प्रति रचनाकार की दृष्टि है। यह एक सरलीकरण ही है कि बादल को लेकर छायावादी कविता, मजदूर को लेकर प्रगतिवादी कविता और "कॉफी हाउस" को लेकर नयी कविता लिखी जाती है। वास्तविक रचनात्मक उन्मेष तो बादल को लेकर नयी कविता लिखने में है। और यों कथानक तथा संवेदना का सीधा रिश्ता बहुत ऊपरी ही कहा जा सकता है। आधुनिकता का मूल स्वर इस रिश्ते की सही समझ में है। इसके लिए अधिक गहरे और रचनात्मक जोखम को उठाना होगा, सृजन और अर्थ की अधिक बुनियादी समस्याओं से जूझना होगा। इस रचनात्मक रूपांतरण का कार्य विषय और कथानक के स्तर पर न होकर अधिकतर भाषिक सर्जन के स्तर पर संभव है। नयी कविता के परवर्ती रचनात्मक उन्मेष को––यदि अपनी बेचैनी और आकुलता में वह सचमुच रचनात्मक है––इस प्रश्न का हल अभी खोजना है।

पर हम लोग अपने विवेचन में शायद कुछ अधिक आगे चले आये हैं। अभी अगले व्याख्यान में तो हमें पहले नयी कविता काल की उपलब्धियों पर विचार करना है।

2. नयी कविता की उपलब्धियाँ

"नयी कविता" शब्द अब एक व्यापकतर अर्थ में प्रयुक्त होता है, जिसमें कविता ही नहीं वरन् उस पूरे रचनायुग की प्रवृत्तियाँ व्यंजित होती हैं। इन रचनाकारों की क्षमता किसी एक माध्यम में नहीं अँट सकी है। कविता, उपन्यास, एक खास अर्थ में कहानी, साहित्य-चिंतन––इन सभी माध्यमों में अभिव्यक्ति की नयी तलाश जारी रही है। कविता इन सब के केन्द्र में है, तो इसलिए कि कविता की भाषा सबसे अधिक सर्जनात्मक होती है, और इसी माने में कविता सबसे अधिक साहित्य है।

नयी कविता में, जैसा कहा गया, मनुष्य और उसके समग्र अनुभव को पकड़ने का यत्न हुआ है। यों मनुष्य को उसकी संपूर्णता में देखने और समझने की प्रतिज्ञा हर नये वैचारिक और रचना-आंदोलन ने की है––१५ वीं शती के यूरोपीय पुनर्जागरण से लेकर २० वीं शती की हिंदी छायावादी कविता तक। पुनर्जागरण का प्रधान बल समग्र मनुष्य ('होल मैन') की धारणा पर था, और छायावाद का कवि भी कहता है कि जाति, वर्ण, संस्कृति, समाज से "मूल व्यक्ति" को फिर से चाल कर निकाला जाये। पर नयी कविता में समग्र मनुष्य की बात ही नहीं कही गयी, वरन् मनुष्य के समग्र अनुभव-खंडों को संयोजित किया गया है। इस तरह नयी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
कविता में समग्र मनुष्य अपने समग्र अनुभव में जीवंत है। इस माने में नयी कविता का मनुष्य को लेकर की गयी चिंतना में गुणात्मक योग-दान है।

अनुभव को वैविध्य, विस्तार और व्यापकता देने में कई कवियों का कृतित्व एक साथ ध्यान आकृष्ट करता है—गजानन माधव मुक्तिबोध, रघुवीरसहाय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, लक्ष्मीकान्त वर्मा तथा विपिन-कुमार अग्रवाल। रघुवीरसहाय के दोनों संकलन 'सीढ़ियों पर धूप में' तथा 'आत्महत्या के विरुद्ध', इस दृष्टि से नयी कविता की सर्वथा नयी क्षमता के सूचक हैं। 'सीढ़ियों पर धूप में' के अनुभव-चित्र अपेक्षया कोमलतर हैं, जब कि दूसरे संकलन में तो समस्त समकालीन जीवन राजनीति के अनेक विकट रूपों को साथ लिए अंकित हुआ है। अकिंचन और सामान्य अनुभव की सार्थकता, पर कोमल रूप में, इस कविता में देखिए—शीर्षक है "पानी के संस्मरण"

कौंध : दूर घोर वन में मूसलाधार वृष्टि
दुपहर : घना ताल : ऊपर झुकी आम की डाल
बयार : खिड़की पर खड़े, आ गई फुहार
रात : उजली रेती की पार, सहसा दिखी
शांत नदी गहरी
मन में पानी के अनेक संस्मरण हैं।

इन छोटे-छोटे 'संस्मरणों' को संप्रेषित कर सकने के लिये रचनाकार में अपने व्यक्तित्व को लेकर बड़ा आत्म-विश्वास चाहिए, और वैसा ही भाषा का निखरा हुआ रूप। रघुवीरसहाय में ये दोनों ही गुण मिलते हैं, पर बिना किसी प्रकार के प्रदर्शन के। और सच पूछिये तो यह अप्रदर्शन का भाव पहले दोनों गुणों के परिणाम-स्वरूप अपने आप आ जायेगा। पर मुक्तिबोध में यह आत्मविश्वास का भाव किसी सीमा तक रचना के स्तर पर बेपरवाही में—या कहना होगा लापरवाही में—बदल जाता है। "गरबीली गरीबी" न उनके लिए प्रदर्शन की वस्तु है, और न आत्मपीड़न की। पर उस मस्ती में उनकी भाषा निथरती नहीं, बिखर जाती है। निराला से मुक्तिबोध की तुलना इधर काफ़ी की जाने लगी है। और वैचारिक उत्तेजन तथा शक्ति को लेकर यह तुलना कुछ आकृष्ट भी करती है, पर जहाँ मुक्तिबोध निराला से पिछड़ जाते हैं वह क्षेत्र है भाषा के रचना-संस्कार का। यहाँ अज्ञेय निराला के अधिक निकट पहुँचते हैं, बजाय मुक्तिबोध के। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि नयी कविता की कई मूल वृत्तियाँ निराला से ही आरंभ होती हैं।

मुक्तिबोध ने सामान्य निम्नमध्यवर्गीय जीवन को एक नया सम्मान और आत्मविश्वास का भाव दिया। और भारतीय समाज के इस बहुत बड़े और बहुत महत्वपूर्ण हिस्से को उन्होंने उसके सारे संस्कारों, मान्यताओं, कमज़ोरी और क्षमताओं के साथ उसी वर्ग की भाषा में रचा है। भाषा को पढ़ते ही उस जीवन से सीधा साक्षात्कार होने लगता है। इसी को मुक्तिबोध ने काव्य में जीवन की पुनर्रचना कहा है। उनकी इस पुनर्रचना में जीवन की भयानकता और आत्मीयता एक साथ उभर कर आती है, जो एक माने में जीवन की सम्पूर्ण प्रक्रिया ही है। मुक्तिबोध ने इस जटिल प्रक्रिया को उसकी समग्रता में स्वीकार किया है।

रघुवीरसहाय में यह मध्यवर्गीय जीवन अपने बिखराव में भी कलात्मक स्तर पर कसा हुआ है। एक तरह से अज्ञेय और मुक्तिबोध दोनों की क्षमताएँ उनमें संयोजित हो सकी हैं, और इसीलिए नयी कविता में उनका विशिष्ट व्यक्तित्व है। भाषा को—अपने शब्द-समूह और वाक्य-विन्यास दोनों में ही—सामान्य बोल-चाल और अखबार से लेकर उन्होंने रचना के स्तर पर गढ़ा है। उनकी तथाकथित हल्की-फुल्की कविताओं को ही लीजिए, उनमें मध्यवर्गीय जीवन की क्रूरता और विवशता की दूर तक व्यंजना मिलती है, पर यह व्यंजना ऐसी नहीं कि जीवन के प्रति ही अनास्थावान बना दे। यहीं उन कविताओं का हल्का-फुल्का तत्त्व

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
काम आता है। एक उदाहरण से बात अधिक स्पष्ट होगी—

पढ़िए गीता
बनिए सीता
फिर इन सब में लगा पलीता
किसी मूर्ख की हो परिणीता
निज घरबार बसाइए।
होंय कँटीली
आँखें गीली
लकड़ी सीली, तबियत ढीली
घर की सबसे बड़ी पतीली
भर कर भात पसाइए।

यहाँ अर्थ की व्यंजना गीता पढ़ने और बड़ी पतीली भर भात पसाने के तनाव से उभरती है। यह नहीं कि एक व्यक्ति के लिए ये दोनों कार्य करणीय नहीं हैं। इसीलिए इन दोनों स्थितियों के बीच मूर्ख की परिणीता होने और कँटीली आँखों के गीले होने का चित्र है। यह सब मिल कर इस जीवन की अनर्थकता, पर जिजीविषा को भी व्यंजित करता है। और हल्का-फुल्कापन तो सटीक तुकों के कारण है, जो सटीक होने पर भी अनायास हैं। शब्द और उससे अधिक उनकी भंगिमा एकदम सामान्य जीवन से लिए जाने पर भी एक खास ढंग से अर्थवान है, और यह संभव होता है उन शब्दों को परख कर उन्हें आमने-सामने लाने से—"गीता" से लेकर "बड़ी पतीली" तक। यह तद्भव तथा घरेलू लहजा केवल संज्ञा शब्दों में ही नहीं है, क्रिया पदों का चुनाव भी इसी दृष्टि से किया गया है, जो अधिक मुश्किल है। 'होंय' (होवें नहीं) पंक्ति की लय के कारण इस रूप में नहीं है, उसका संदर्भ समूची भाषा की ठेठ तद्भव, मध्यवर्गीय प्रकृति है।

रघुवीरसहाय का नवीन संकलन 'आत्महत्या के विरुद्ध' इधर काफी चर्चा और आशंसा का विषय बना है, जो समकालीन समीक्षा की सही पकड़ का प्रमाण है। संकलन के शीर्षक में ही जीवन की क्रूरता, पर उसकी अनिवार्य जिजीविषा की ध्वनि है। इन कविताओं में मध्यवर्ग से भी आगे पूरा का पूरा राष्ट्र बोलता हुआ लगता है, संसद् और उसका गोल गुंबज तक। राजनीति जैसे अखबारी विषय को कवि ने रचना के गहरे अनुभव के स्तर पर साक्षात्कृत किया है। यह समकालीन कविता की एक बहुत बड़ी उपलब्धि है, खास तौर से ऐसे परिवेश में जहाँ साहित्य ही अखबारनवीसी से उत्तरोत्तर अधिक आक्रांत होता जा रहा है। और भाषा का रचाव ऐसा है कि या तो भाषा ही भाषा लगती है, या फिर अनुभव का सीधा संस्पर्श होता है। बात एक ही है। भाषा और अनुभव के इस अद्वैत ने रघुवीरसहाय के कृतित्व को विशेष रूप से प्रभावशाली बनाया है।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने नयी कविता के शुरुआत के दिनों में वस्तु-चयन और बिंब-गठन को एक विशेष प्रकार की उन्मुखता दी और हल्के व्यंग के साथ मानवीय विद्रूपों को उघारा। उनकी 'सरकंडे की गाड़ी' या 'घास काटने की मशीन' नयी कविता की चेतना के साथ लिखी जाने वाली आरंभिक समर्थ रचनाएँ हैं। सर्वेश्वर की अधिकतर कविताओं में ऊपर से दिखने वाली गठन की सरलता विशेषरूप से प्रीतिकर लगती है। काव्य-अनुभव को सामान्य धरातल पर व्यापक बनाने में उनकी 'लिपटा रजाई में' जैसी कविताओं ने महत्त्व-पूर्ण योग दिया है। पर नये कवि के लिए चुनौती कई तरह की हैं। एक ओर उसे अब तक की सीमित अनुभव प्रक्रिया को विस्तार देना है, दूसरी ओर जटिलतर और तनावपूर्ण आधुनिक जीवन को अपनी रचना में वैसी ही कलात्मक जटिलता, पर विश्वसनीयता के साथ अंकित करना है। यदि आधुनिक अनुभव अधिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
जटिल और अस्पष्ट है तो उसकी अभिव्यक्ति भी ऐसी हो, जो उस जटिलता और अस्पष्टता को व्यंजित कर सके–बिना स्वयं कविता को जटिल और अस्पष्ट बनाये हुए। सर्वेश्वर की इधर की कविताओं में इस दूसरी रचना-समस्या से जूझने की कोशिश हुई है।

नयी कविता में सतत रचना-क्रांति का आवाहन करने वाले लक्ष्मीकान्त वर्मा का कृतित्व जितना बड़ा है उतना ही अस्तव्यस्त भी। इस अस्त-व्यस्तता में उनकी शक्ति और सीमा दोनों हैं। पर किसी भी क़ीमत पर लक्ष्मीकांत वर्मा स्थिरता को मूल्य नहीं मान सकते। सन् तिरपन का स्वागत करने वाली उनकी कविता—"सिर पर जूता। पैर में टोपी" ने नयी कविता को बदनाम किया, तो एक संस्कार भी दिया। और हर समर्थ रचनाकार के लिए यह एक चुनौती है कि उसकी बदनामी क्रमशः समाज का संस्कार बन पाती है या नहीं। लक्ष्मीकान्त ने स्थिर आकार के प्रति विद्रोह कर के बराबर एक ऊलजलूलपन—जिसे उन्होंने अपनी रचना के संदर्भ में अतुकांत कहा है और जो अब उनके नवीनतम काव्यसंकलन का शीर्षक भी है—को प्रोत्साहित किया है। और इसीलिए जैसा कहा गया, वे सतत क्रांति के पक्षधर हैं। अपनी इस बेचैनी को उन्होंने अपने पिछले दिनों प्रकाशित समीक्षात्मक लेखों में भी प्रतिपादित किया है, और कविताओं का तो वह प्राणतत्त्व है ही।

पर लक्ष्मीकांत के इस अस्त व्यस्त, अतुकांत व्यक्तित्व में एक बुनियादी आत्मीयता का भाव परिव्याप्त है। जीवन का क्रूर आकर्षण उनकी कविताओं में कुछ वैसा ही है, जैसा कि मुक्तिबोध में है, पर व्यंग का तीखापन लक्ष्मीकांत में अधिक है। इस वैचारिक तीखेपन के साथ उनकी आत्मीयता का संस्कार बड़े सानुपातिक ढंग से संपृक्त है, जो कवि की रचनात्मक क्षमता का मूल स्रोत है। संस्कार आधार देता है और विचार गति। इन दोनों की टकराहट में सर्जनात्मक विकास संभव होता है। मानवीयता और उसके संरक्षण के लिए आक्रामकता, लक्ष्मीकांत की कविताओं में दोनों एक दूसरे से घुल-मिल गयी हैं, पर स्पष्ट ही आधार–भूमि मानवीयता है। यहीं कवि की सतर्कता है कि उसने आक्रामकता को प्रोत्साहित करते हुए उसे मानवीयता पर हावी नहीं हो जाने दिया है। इस संदर्भ में लक्ष्मीकांत की एक कविता है—'मेरा अपराध':

मेरा अपराध यह है
कि मैंने कारनिस से गिरे हुए गौरेये के चूज़े को
फिर कारनिस पर रख दिया है।
बेतहाशा बढ़ती हुई मक्खियों को
कमरे में जाली का दरवाज़ा लगा कर
बाहर ही ठहरा दिया है।
अनगिनत गालियों, ढेलों और पत्थरों के बीच
अपना रास्ता निकालने की कोशिश की है।
उन लैंपपोस्टों के नीचे कभी नहीं रुका
जिन पर पागल से करोड़ों पतंगों की भीड़
आदतन मरने के लिए तत्पर है।
उन चौराहों की भी परवाह नहीं की
जिन पर बैठ कर कुछ मीडियाकर
इंसानियत के बारे में बात करते हैं।
उन उँगलियों और नुक्कड़ों की भी परवाह नहीं की
जहाँ हर रोशनी की किरन पहुँचते ही बुझ जाती है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मेरा अपराध यह है––
मैंने बिना सिर उठाये
और किसी चौखट से टकराये
अपना सिर बचा लिया है
ताकि वक्त-ज़रूरत काम आये !

सिर को इतनी चिंता और कोशिश से बचाने के साथ-साथ यह भी महसूस करते चलना कि यह कभी-कभार ही काम आ सकता है, आज के युग में संवेदनशील मनुष्य की नियति का सच्चा और प्रभावी चित्र है, जहाँ सिर शोभा के लिए है, बोझा उठाने के लिए है, पर सोचने के लिए कम है। पर मुक्तिबोध की तरह लक्ष्मीकांत में फैलाव इतना अधिक है कि कलात्मक संघटन के लिए चिंता कम है। इसीलिए लक्ष्मीकांत की कुछ कविताएँ श्रेष्ठ और खरी रचना के रूप में नहीं, वरन् उनके कच्चे माल की तरह दिखायी देती हैं। शायद यही कारण है कि लक्ष्मीकांत सदैव संभावनाओं के कवि दिखायी देते हैं, कहीं पहुँचे हुए नहीं। समीक्षा की शब्दावली में यह बहुत बड़ी आशंसा भी मानी जा सकती है, और बहुत तीखी आलोचना भी। पर विरोधी प्रकृति का सम्मिलन तो लक्ष्मीकांत के व्यक्तित्व की मूल विशेषता है ही।

काफ़ी दिन हुए––1956 में––लक्ष्मीकांत वर्मा और विपिनकुमार अग्रवाल की कविताओं का संयुक्त संकलन प्रकाशित हुआ था––'धुएँ की लकीरें'। अपनी "गरबीली गरीबी" में वह अनदेखा ही रहा है, पर नयी कविता की कुछ सर्वथा नयी संभावनाएँ वहाँ देखी जा सकती हैं। विपिन की कविताओं का निरावेग, ठंडा स्वर केवल झकझोरता नहीं, वरन् अनुभव के स्तर पर सोचने के लिए प्रेरित करता है। व्यंग का प्रयोग भी इन कविताओं में तीखापन या आक्रोश उत्पन्न नहीं करता। कविता के मान्य और स्वीकृत उपकरणों में से कम से कम का उपयोग करके, अधिकतर भाषिक स्तर पर ही विपिन की रचना संभव होती है। कविता के इस रूप में एक वैज्ञानिक दक्षता का भाव है, जो विज्ञान का आतंक उत्पन्न न करके भी उसकी क्षमता दरसाता है। पर वैज्ञानिक दक्षता की भी मूल प्रतिज्ञा आत्मीयता है। इसीलिए विज्ञान से व्युत्पन्न और समर्थित प्राविधिक विकास को कवि चौकन्ने भाव से ही देखता है। न्यूयॉर्क का एक चित्र है––

अजब जंगल है––
धूप के कतरे को तरसती
होड़ लेती
उठती मीनारों का !
बड़ा घना जाल है
मकड़ी के जालों का !
जानवरों के नाद से भी भयानक है
यह शोर––बिना गले की आवाजों का !
कैसा दम घुटता है,
हर कदम पर जान का खतरा है।
यहाँ––
न सूरज है !
न चाँद है !
न हवा है !

नयी कविता की मूल प्रतिभा अपेक्षया छोटी कविताओं में व्यक्त होते रहने पर भी, कुछ रचनाएँ अपने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
प्रबंधपरक रूप में पूरी व्यवस्था तथा क्षमता के साथ ऊपर उभरती है। इनमें से धर्मवीर भारती का 'अंधायुग' (1955) तथा कुँवर नारायण का 'आत्मजयी' (1965) नयी कविता की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। 'अंधायुग' इस रचना-आंदोलन के आरंभिक दौरान लिखा गया एक युग-काव्य है, जिसमें समकालीन जीवन के मूल्यगत विभ्रम को महाभारतकालीन कथा के बीच से अंकित किया गया है। नाटक और काव्य के तत्त्वों को समायोजित करके इस रचना में जीवन और संस्कृति के बुनियादी प्रश्नों को उठाया गया है। आस्था, सत्य, मर्यादा, नैतिकता जैसी परंपरित शब्दावली से जूझ कर कवि ने नये युग-बोध को विकसित करने का प्रयत्न किया है। जीवन में आस्था और सार्थकता की समस्या को भारती ने भी मनुष्य की सर्जन-क्षमता से जोड़ा है—'अंधा युग' की प्रायः अंतिम पंक्तियाँ हैं—

पर एक तत्त्व है बीजरूप स्थित मन में
साहस में, स्वतंत्रता में, नूतन सर्जन में

मानवीय व्यक्तित्व की सुरक्षा और उसके स्वच्छंद विकास की मूल वस्तु नयी कविता के इस दृश्य-काव्य में कृष्ण की विराटता से लेकर प्रहरियों की अकिंचनता तक में व्यक्त हुई है। रचना की वास्तविक शक्ति कृष्ण और अश्वत्थामा के चरित्रों की टकराहट से उपजती है।

'आत्मजयी' का गठन अपेक्षया कमजोर पड़ता है। समस्या यहाँ भी बुनियादी मान-मूल्यों की है, जीवन और मृत्यु के मौलिक अर्थ की है। पर कृति की मूल वस्तु जीवन और मृत्यु के प्रति जिज्ञासा है, और इसके लिए जो पुराण-कथा नचिकेता और यम की कवि ने चुनी है, वह भी इसी समस्या को सीधे, निस्संग रूप में उठाती है। इसीलिए कथा और वस्तु में समानांतरता होने के कारण वह कलात्मक तनाव पूरी तरह से नहीं बन पाता, जो रचना में अर्थ का मूल उत्स होता है। किंतु इसके बावजूद मानवीय नियति की सार्थकता का बड़ा संगत प्रश्न कुँवरनारायण ने 'आत्मजयी' में उठाया है।

नयी कविता के रचना-शिल्पियों में शमशेर अन्यतम हैं। मित-कथन और हल्की व्यंजना का सौंदर्य शमशेर की कविता को एक खास अर्थ में स्पृहणीय बना देता है। ठेठ भारतीय जीवन के चित्रों को उन्होंने योरोपीय प्रतीकवाद के उत्कृष्टतम रूप में रचा है। "हल्की मीठी चा-सा दिन" की सुकुमारता शमशेर में प्रायः सर्वत्र मिलेगी। सूक्ष्म बिंबों और प्रतीक-विधानों के लिए उनकी 'कविताएँ' बेजोड़ हैं। उनकी रचना में संपूर्ण अर्थ को पा लेना संभव नहीं होता, जो एक रूप में उत्कृष्ट काव्य की क्षमता है, जहाँ अर्थ पूरी तरह से निःशेष कभी नहीं होता।

बालकृष्ण राव, जिनकी सराहना में शमशेर ने एक बहुत अच्छा लेख लिया है, दूसरी तरह के कवि हैं। खड़ी बोली का सहज ओज, खास तौर से उनकी बाद की कविताओं में विशेषरूप से मिलता है। कवि का रचना-जीवन प्रमुखतः छायावादी भाव-भूमि में आरंभ हुआ था, पर उसका एक सहज विकास नयी कविता के साथ हुआ। इसी नगर और इस के जीवन के भावात्मक वैषम्य पर लिखी हुई उनकी कविता 'आगरा और ताज' में मानों छायावाद और नयी कविता का आमना-सामना होता है—

रात भर
चाँदनी अकेली घूमती है सूनी सड़कों पर,
ज्वार उठता है संगमर्मर के सागर में—
पर न कभी छींटों से
टूट सकी गाढ़ी नींद
दिन भर के जले-तपे, थके-हारे आगरे की।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
शैली और व्याकरण के लिए प्रतिश्रुत कवि को भी यहाँ साहस नहीं हुआ कि थके-हारे 'आगरे' को "आगरा" कह कर उसे जगा दे, और पाठक इस हल्की-सी व्याकरणिक भूल के लिए प्रसन्न ही है।

खड़ी बोली के अपेक्षया सीधे और खड़ेरूप से गहरी अर्थ-व्यंजना को संभव करना केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में भी अच्छे ढंग से देखा जा सकता है। प्रकृति और जीवन का साहचर्य बिना किसी महिमा के अपने सामान्य, साधारण पर संगत रूप में केदार की कविताओं में बड़ी आत्मीयता के साथ व्यक्त हुआ है। प्रकृति के प्रति यहाँ न अतिरंजित आकर्षण है और न तिरस्कार वरन एक सहज स्वस्थ संबंध है। धूप के वर्णन की दो पंक्तियाँ हैं--

धूप चमकती है चाँदी की साड़ी पहने
मैके में आई बेटी की तरह मगन है

यहाँ धूप और मैके में आयी बेटी के सामान्य-से अनुभव में जीवन को नयी सार्थकता मिलती है। केदार की कविताओं का एक बड़ा संकलन 'फूल नहीं, रंग बोलते हैं' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है।

'तारसप्तक' (1943), 'दूसरा सप्तक' (1951)--'तीसरा सप्तक' (1959) में तो समकालीन काव्य धारा अधिकतर उसके बाहर ही प्रवाहित होती रही है--इन कवियों ने प्रयोगवाद, नयी कविता तथा दोनों के बीच के संक्रमण को गति दी है। इनमें से कुछ की चर्चा हम कर चुके हैं। इनके साथ-साथ गिरिजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे तथा भारतभूषण अग्रवाल के काव्य-प्रयोग बराबर गतिशील रहे हैं। माथुर के काव्य में रंगों का वैभव और माचवे के वर्णन की साहसिकता समकालीन कविता के विशेष आकर्षण हैं। भारतभूषण के पूरे रचना-गठन का सुथरापन आरंभ से ही प्रीतिकर रहा है। हल्के व्यंग से गंभीर बात बिना किसी प्रदर्शन के कह देना--इस पद्धति का उनकी शैली में बराबर परिष्कार होता रहा है। "मैं, और मेरा पिट्ठू" में द्विधा व्यक्तित्व की सामान्य प्रक्रिया को जिस तरह उघारा गया है, उसमें निर्ममता भी है और सहानुभूति भी--

जब मैं दफ्तर में
साहब की घंटी पर उठता-बैठता हूँ,
मेरा पिट्ठू नदी किनारे बंशी बजाता रहता है !
जब मेरी "नोटिंग" कट-कुट कर "रिटाइप" होती है,
तब साप्ताहिक के मुख-पृष्ठ पर
मेरे पिट्ठू की तस्वीर छपती है !

State Museum Library Lucknow

नयी कविता की इन विविध भंगिमाओं और रूपों को पिछले वर्षों में प्रकाशित कुछ संकलनों ने और समृद्ध किया है। इनमें श्रीकान्त वर्मा के 'माया दर्पण' (1967) और अशोक वाजपेयी के 'शहर अब भी संभावना है' (1966) का विशेष रूप से उल्लेख अपेक्षित है। दोनों की साथ-साथ चर्चा करने पर यह बात और भी उभरती है कि इन दोनों कवियों का मिज़ाज फ़रक है। श्रीकांत की रचना-शक्ति उनके तीखे व्यंग और विद्रूप में है, जबकि अशोक वाजपेयी बड़ी कोमल और सुकुमार मनः स्थितियों के कवि हैं। माँ के प्रति उनका लगाव रघुवीरसहाय की उन कविताओं का बरबस स्मरण दिलाता है जिनमें वे अपने पिता को स्मरण करते हैं। रघुवीरसहाय के इन दोनों सहयोगियों में रचना-विधान का भी कुछ इसी तरह का अंतर है। श्रीकान्त वर्मा का तुकों से खेल एक तरफ है, तो दूसरी ओर अशोक वाजपेयी का बड़ा हल्का, पर परिष्कृत शब्द-चयन है। 'माया दर्पण' में टाइपराइटर से लिखे जैसे महानगरीय जीवन के प्रति वितृष्णा है, पर अशोक वाजपेयी के लिए 'शहर अब भी संभावना है--'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

माँ,
लौटकर जब आऊँगा
क्या लाऊँगा ?
यात्रा के बाद की थकान,
सूटकेस में घर-भर के लिए कपड़े,
मिठाइयाँ, खिलौने,
बड़ी होती बहनों के लिए
अंदाज़ से नयी फैशन की चप्पल ?
या रक्त की एक नयी सिद्धि
और गढ़ी हुई वीरगाथाएँ ?

जब कि श्रीकान्त वर्मा का कहना है—

मगर सिकुड़ूँ तो कहाँ तक सिकुड़ूँ ।
मैं इस कदर सिकुड़ चुका हूँ कि
छोटे से छोटे
अवसर के छल्ले से
अपने को साफ-साफ बचाकर
गुज़र सकता हूँ

नगरीय जीवन में ये मनुष्य के लिए मनुष्य के खतरे हैं, जिनका उल्लेख मैंने अपने पहले व्याख्यान में किया है। अशोक वाजपेयी ने अपने को इस घर्षण से बचाया है संवेदनशीलता को सुरक्षित रखने के लिए। श्रीकांत वर्मा उस मुठभेड़ में मौजूद हैं, और हर गुत्थमगुत्थे में अपने कवि और उसकी प्रकृति के प्रति सजग हैं—

मैं बकता नहीं हूँ कविताएँ
ईजाद करता हूँ
गाली
फिर उसे बुदबुदाता हूँ ।

इन कवियों की कविताएँ देश के संवेदनात्मक विकास की प्रभावशाली अभिव्यक्ति हैं, और नयी कविता की संभावना के प्रति व्यापक रूप में आश्वस्त करती हैं ।

इस क्रम में एक अंतिम उल्लेख और करना है श्रीराम वर्मा की कविताओं का । श्रीराम का अभी तक कोई संकलन प्रकाशित नहीं हुआ, और उनका कृतित्व समकालीन पत्रिकाओं में ही गतिशील है। श्रीराम के व्यक्तित्व में कोई बहुत बड़ी उपलब्धि न हो, पर उन कविताओं में अनुभव की संगति और सार्थकता बराबर मिलेगी। और बड़प्पन के लिए कोई व्याकुलता भी वहाँ नहीं है। इस माने में श्रीराम की कविताएँ नयी कविता की भाव-भूमि की प्रतिनिधि उदाहरण हैं, जहाँ कविता की रचना-प्रक्रिया प्रधान है, उनका बड़ा हो जाना आनुषंगिक है—

मैंने दर्ज़ी की दूकान से कुछ कतरनें उठाईं
कि रचूँ रंगारंग बादल
वे भिखारी के लिए कमीज़ बन कर रह गईं ।

छायावाद का "बादल" नयी कविता में कैसे "कमीज़" हो जाता है, यह द्रष्टव्य है।

हिंदी का आधुनिक कथा-साहित्य नये-पुराने, स्वदेशी-विदेशी के तनाव में लिखा जा रहा है। एक ओर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
वह प्रेमचन्द से बँधा है, और दूसरी ओर जेम्स ज्वायस के प्रति उन्मुख है। इसीलिए समकालीन उपन्यास की दो धाराएँ साफ-साफ देखी जा सकती हैं——वर्णन प्रधान उपन्यास और सूक्ष्म अनुभवपरक उपन्यास। हिंदी में प्रेमचन्द के बाद उपन्यास की भाषा को नये ढंग से गलाने का काम किया है जैनेन्द्र ने। इस दृष्टि से 'त्यागपत्र' उपन्यास साहित्य की बेजोड़ उपलब्धि है। यहाँ जैनेन्द्र शब्दों से उतना काम नहीं लेते, जितना उनकी भंगिमा से। जैनेन्द्र के साथ अज्ञेय का नाम आता है। इन दोनों ने मिलकर भाषा को वर्णन के प्राथमिक स्तर से ऊपर उठाया। 'त्यागपत्र' और 'शेखर' की पूरी मानसिक प्रक्रिया इसका प्रमाण है। यहाँ मुख्य है, वर्णन न करके वर्णन को व्यंजित कर देने की क्षमता। गद्य और कविता——भाषा के इस रचनात्मक संपर्क का और बढ़िया उदाहरण अज्ञेय के नवीनतम उपन्यास, 'अपने-अपने अजनबी' में देखा जा सकता है, जिसका भाषा प्रयोग आधुनिक कथा-साहित्य में एक नया मान स्थापित करता है, और जिसका भाषिक विश्लेषण अपने में स्वतंत्र और संपूर्ण विषय है।

जैनेन्द्र और अज्ञेय के साथ-साथ उपन्यास की स्थूल वर्णन वाली परंपरा भी चलती रही है, जिसके लेखकों ने जैनेन्द्र की भाषा को "चक्करदार" कह कर हमेशा उसे बदनाम करने-कराने की कोशिश की है। उनके लिए दुनिया जैसी-सीधी-सरल है, वैसी ही सीधी-सरल बौद्धिकता-विरोधी उनकी भाषा है। भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', अमृतलाल नागर, मोहन राकेश प्रभृति ने भाषा के इस सीमित रूप से अधिकतर कहानी कहने का उपक्रम किया है, जो अच्छी भी बन पड़ी है, बुरी भी और सामान्य भी। इन रचनाकारों की परवर्ती कृतियों में नागर के वर्णन जितने सजीव और आकर्षक हैं, यशपाल के वर्णन उतने ही जड़ हैं। यशपाल का वृहदाकार उपन्यास 'झूठा सच' वर्णनों से इतना अधिक आक्रांत है कि उसका कोई भी चरित्र कहीं कुछ देर तक सोचता हुआ, आत्मालोचन करता हुआ अंकित नहीं किया गया। बस घटना और चरित्रों का घटाटोप है।

वर्णन का उपयोग करते हुए उससे ऊपर उठने का उपक्रम करने वाले उपन्यासकारों में देवराज ('रोड़े और पत्थर' 'अजय की डायरी'), नरेश मेहता ('यह पथ बंधु था'), फणीश्वर नाथ 'रेणु' ('मैला आंचल'), लक्ष्मीकांत वर्मा ('खाली कुर्सी की आत्मा'), प्रभाकर माचवे ('द्वाभा'), रघुवंश ('अर्थहीन'), निर्मल वर्मा ("वे दिन") के नाम लेना होगा। इनके उपन्यासों में दिलचस्प वर्णन का आकर्षण जिस सीमा तक कम है, भाषिक सर्जनात्मकता का रूप उतना ही उभरा है, और बौद्धिक उपक्रम भी उसी मात्रा में संयोजित हो सका है। पर कुल मिलाकर इन उपन्यासों में घटनाक्रम या चरित्र-चित्रण से आगे संवेदन के अंकन का प्रयत्न है:। इन उपन्यासकारों में से अधिकांश का कवि होना इन्हें निश्चय ही रचनात्मक स्तर पर कुछ सहायता देता है, पर अच्छा उपन्यासकार होने के लिए कवि होना ज़रूरी हो, ऐसा नहीं है। इसका बहुत अच्छा उदाहरण स्वयं जैनेन्द्र हैं, जो इस धारा के अग्रणी हैं। अनुभव को महत्त्व देने के कारण उन्होंने शिल्प से अधिक भाषा को केन्द्र में रखा है, क्योंकि अनुभव और भाषा एक दूसरे के निकटतम हैं।

उपन्यास में, चाहे जितना संक्षिप्त हो, वर्णन चाहिए ही। और यह वर्णन आधुनिक कविता के अमूर्त और विरूप होते विधान द्वारा संभव नहीं है, क्योंकि ये प्रक्रियाएँ व्यंजना की हैं, वर्णन की नहीं। यहीं आधुनिक उपन्यासकार का रचना-संकट है, और उसकी क्षमता को एक चुनौती है। वर्णन की परंपरित स्थूल भाषा और नयी कविता की अमूर्त और विरूपीकृत भाषा को एक रचना-विधान में कैसे संघटित किया जाए, जिससे दोनों के बीच न जोड़ दिखायी दे और न दरार ही, यही आधुनिक उपन्यास की मूल समस्या है। यों तो उपन्यास अपने जन्म से ही यथार्थवादी वर्णन की परंपरा से जुड़ा है। पर उसमें कोई भी नयी शक्ति उत्पन्न करने के लिए अब गद्य की अपेक्षया ठोस-जड़ भाषा में कविता-भाषा के द्रवणशील तत्त्वों को संक्रमित करना होगा। पर उपन्यास के संघटन में कविता के प्रयोग का क्या अर्थ है? कविताओं को उद्धृत करना, नहीं! 'काव्यात्मक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
गद्य' लिखना, नहीं ! वरन् उपन्यास के वर्णन-प्रधान ठोस गद्य में यथावश्यक हल्के-हल्के बिंबों का प्रयोग करते हुए अर्थ की गूंज-अनुगूंज उत्पन्न करने वाले शब्दों और मुहावरों का प्रयोग, जिससे सूक्ष्म और अस्पष्ट-से लगने वाले अनुभव और उसके यथार्थ का साक्षात्कार संभव हो सके। इस अनुभव का साक्षात्कार भाषिक सर्जनात्मकता को विकसित करके ही संभव है। रचना के क्षेत्र में इस चुनौती का सामना आधुनिक लेखक कैसे करते हैं, इस पर उपन्यास की नयी संभावनाएँ ही नहीं, एक माने में साहित्यिक रचनाशीलता का भावी रूप ही आधारित है ।

कहानी का रूप प्रायः सभी साहित्यों में--हिन्दी साहित्य में भी--व्यावसायिकता से आक्रांत है। वह अनुभव की माध्यम न होकर, उपभोग की वस्तु अधिक बन गयी है। कहानी अनेक पत्रिकाओं और संकलनों के रूप में रेडियो, सिनेमा, टेलीविज़न जैसे जनता-माध्यमों में सम्मिलित हो चुकी है। इस व्यावसायिक दबाव के अतिरिक्त कहानी के विधान की कुछ अपनी सीमाएँ भी हैं। कहानी शुरू से ही जीवन की किसी एक घटना, एक चित्र को अंकित करके निष्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति में जीवन के अन्य पक्षों से उसकी कथा-वस्तु की टक-राहट नहीं हो पाती। आकार की संक्षिप्तता ही नहीं, विधान की इस अद्वन्द्वपरक स्थिति के कारण कहानी के माध्यम में किसी रचना दृष्टि का विकास संभव नहीं हो पाता। जीवन के विविध पक्षों के द्वन्द्व और टकराहट से जो अर्थ और दृष्टि कविता या उपन्यास या नाटक में विकसित होती है, उसकी संभावना कहानी में नहीं रह जाती। कहानी में खंड जीवन का स्थिर चित्रण ही उद्दिष्ट है। जीवविज्ञान की शब्दावली में कहानी साहित्य-संसार का एककोशीय संघटन है, जो प्रकृति में बहुत सीधा-सरल है। आधुनिक जीवन के जटिल तनावों और संघर्षों को व्यक्त करना उसके लिए अपनी विधानगत सीमाओं के ही कारण कठिन है, फिर व्यावसायिक दबाव में तो उसका रूप साहित्य की रचनाशीलता से और अलग हो गया है। इन विधानगत और व्यावसायिक सीमाओं से उबर कर भी समकालीन लेखकों ने आधुनिक भावबोध की कहानियाँ लिखी हैं, यह अपने में कम स्पृहणीय नहीं है। रघुवीरसहाय, निर्मल वर्मा, गजानन माधव मुक्तिबोध, सर्वेश्वर, कुँवरनारायण, मनोहर श्याम जोशी की कहानियों ने जैनेन्द्र और अज्ञेय के आरम्भिक प्रयोगों को काफ़ी आगे विकसित किया है। रघुवीरसहाय और मुक्तिबोध ने घटना और चरित्रों के ऊपर सूक्ष्म अनुभव के क्षेत्र में अपनी कहानियाँ रची हैं, जिनमें विविध मानसिक घात-प्रतिघातों के बीच कहानी की रचना-क्षमता विकसित हुई है। रघुवीरसहाय की 'सीढ़ियों पर धूप में 'की कहानियाँ तथा मुक्तिबोध का संकलन 'काठ का सपना' हिंदी कहानी की शक्ति के परिचायक हैं, भले ही इस तरह की रचनाएँ हिंदी की चलती कहानी के बीच विरल अपवाद हों।

अन्य गद्य-रूपों में ललित निबंध की स्वच्छंदतावादी प्रक्रिया के बजाय यात्रा-वृत्त, संस्मरण या जीवनी में हुए प्रयोग नवलेखन की प्रकृति के अधिक निकट हैं। इन नये अकाल्पनिक गद्य-वृत्तों की रचना कविता या नाटक जैसी सघन न होकर अपेक्षया हल्की होती है। पर ये रूप अब पहले की तरह सूचनात्मक नहीं, कलात्मक अधिक हैं। इनकी रचना में कल्पना का उपयोग सीमित और, भाषिक सर्जन अपेक्षया हल्का है। यात्रा-संस्मरणों में अज्ञेय ('अरे यायावर रहेगा याद', 'एक बूँद सहसा 'उछली'), रघुवंश ('हरी घाटी'), मोहन राकेश ('आखिरी चट्टान तक') तथा निर्मल वर्मा ('चीड़ों पर चांदनी') का गद्य मितकथन के अपेक्षया नवविकसित प्रयोग का अच्छा उदाहरण है।

रचना के साथ-साथ समीक्षा की प्रवृत्तियों का संक्षिप्त उल्लेख ही सही आवश्यक जान पड़ता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद हिंदी समीक्षा ने अधिकतर रचना-अनुभव की उपेक्षा करके अपना मुँह शास्त्र की ओर रक्खा है। इससे शोध को कुछ सहायता भले मिलती हो--यद्यपि वह भी मिली नहीं है--आलोचना की जीवंत प्रक्रिया में कुछ जड़ता जरूर आ गयी। नयी कविता और नवलेखन के साथ विकसित होने वाली समीक्षा ने रचना के पक्ष को केन्द्र में रखना चाहा है। इसीलिए रस सिद्धान्त के प्रबल आग्रहों के बीच भी

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कुछ समीक्षकों ने रचना के गठन पर विशेष ध्यान दिया, क्योंकि उनकी दृष्टि में भाषा और अनुभव का अद्वैत ही कला की चरम निष्पत्ति है--यदि निष्पत्ति सचमुच कहीं आती हो, अन्यथा कला-रचना तो जीवन की भांति ही प्रक्रिया अधिक है। भाषिक सर्जनात्मकता को मसझना रचना के अनुभव को निकटतम रूप में समझना है। समीक्षा की इस संभावना को रचनाकार-समीक्षकों से भी समर्थन मिला, जिन्होंने अपनी रचना और समीक्षा दोनों में भाषा की केन्द्रीय क्षमता को उत्तरोत्तर अधिक पहिचाना है।

समीक्षा में भाषिक सर्जनात्मकता के तत्त्व पर वल देने का एक कारण शायद यह भी रहा हो कि पिछले कुछ वर्षों से हिंदी का रचना-क्षेत्र ज्ञात या अज्ञात, चाहे-अनचाहे रूप में भाषा-समस्या के दवाव का अनुभव करता रहा है। हिंदी भारत संघ की राजभाषा होती है या नहीं, इस प्रश्न में हिंदी लेखक की रुचि लेखक के रूप में नहीं रही। राष्ट्र के नागरिक होने के नाते उसने इस समस्या पर भले विचार किया हो, पर उसकी रचना-धर्मिता पर इस वात का वहुत कम असर पड़ता है कि राजभाषा क्या होती है ? पर इन अप्रिय और अधिकतर आरोपित भाषा-विवादों ने शायद उसे भाषा की प्रक्रिया के बारे में सोचने के लिए अधिक मजवूर किया है। और तव उसने अनुभव किया कि भाषा एक माध्यम मात्र नहीं, वरन् वह व्यक्तित्व और सामूहिक व्यक्तित्व का अभिन्नतम अंग है। इस अनुभव का थोड़ा-सा प्रयोग उसने भाषा-विवादों में भी किया हो, अधिकतर तो भाषा की इस शक्ति का समायोजन उसने अपनी रचना में किया है, जो लेखक के नाते उसका पहला धर्म और रघुवीरसहाय के शब्दों में उसका पहला मोर्चा है, हर तरफ लड़ते हुए भी मरना उसी मोर्चे पर है ('आत्महत्या के विरुद्ध' की भूमिका)।

नाटक की तो हिन्दी में चर्चा ही चर्चा होती है, नाटक कम होते हैं। मंच से वहुत कमजोर रिश्ता होने के कारण हिंदी में नाटक अपेक्षया कम लिखे जायें, तो यह स्वाभाविक है। पिछले कुछ वर्षों में संयोग से रंगकर्मी और नाटक लेखक दोनों अपने-अपने ढंग से सक्रिय हुए हैं। फलस्वरूप इस क्षेत्र में जागरूकता और सक्रियता वढ़ी है। अनेक वर्ष पूर्व भुवनेश्वर ने कुछ महत्त्वपूर्ण नाट्य प्रयोग किये थे, और यह दुर्भाग्य है कि इस दिशा में उनका अपना कार्य आगे नहीं वढ़ सका। नवलेखन के साथ लक्ष्मीनारायणलाल वरावर नाटक के क्षेत्र में काम करते रहे हैं, और उनकी कई कृतियाँ शब्द के सच्चे अर्थ में नाटक वन सकी हैं। उनके नाटकों में वस्तु और शिल्प दोनों दृष्टियों से कुछ प्रयोग किये गये हैं। भाषिक स्तर पर रचना करते हुए आधुनिक ढंग से नाटक विपिनकुमार अग्रवाल, लक्ष्मीकांत वर्मा, मुद्राराक्षस तथा शंभूनाथ सिंह ने लिखे हैं। विपिन के प्रयोग इस दिशा में काफी संभावनापूर्ण हैं, इसका समर्थन उनकी प्रस्तुतियों से भी हुआ है। इन नाटकों में भाषा का अमूर्तन और स्थितियों की अनर्थकता समकालीन जीवन के तनावों और घात-प्रतिघातों को सहानुभूतिपूर्ण ढंग से अंकित करती हैं। 'तीन अपाहिज' शीर्षक नाटक के अपेक्षया संक्षिप्त आकार में सारे देश की थकान और निष्क्रियता को वड़े सूक्ष्म और ठंडे ढंग से व्यंजित किया गया है, जिसमें परस्पर या सामूहिक दोषारोपण नहीं, सच्चे और निरावेग आत्मालोचन का स्वर सुनायी पड़ता है। नाटक के इस नये रूप में वस्तुतः संवादों से भी अधिक महत्त्व संवादों के वीच के अंतराल का है, जहाँ निर्देशक को नाटक की व्याख्या और उसके पुनर्सृजन के लिए अधिकाधिक अवसर रहता है। नये नाटक की इन संभावनाओं के प्रति आकृष्ट होकर कई और कथाकारों ने इस माध्यम से जूझना शुरू किया है। यदि रंगकर्मियों का सहयोग इन्हें मिलता रहा, तो साहित्य के इस सवसे अधिक जनतांत्रिक माध्यम में, जिसके अंतर्गत प्राचीनों ने भी शूद्रों और स्त्रियों को छूट दे रखी थी, वहुत वड़ी क्षमता विकसित हो सकेगी। पर यह होगा तभी संभव जव नाटक की सृष्टि पुस्तक के पृष्ठों से वाहर सामान्य जनता के वीच रंगमंच पर होगी। और तव अनुभव होगा कि 'असल चीज तो नाटक है।'

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

3. और युवा लेखन !

आज हम रचना की बिलकुल समकालीन स्थिति पर विचार करने को प्रस्तुत हैं। 'युवालेखन' एक ऐसा सामान्य सुविधाजनक नामकरण है, जिसके अंतर्गत विविध प्रकार की रचनापरक बेचैनी और-रचना-प्रक्रिया--जिनमें कई की दिशाएँ परस्पर विरोधी भी हैं--को शामिल कर लिया जाता है। पर उनके विवेचन के पूर्व यह उचित और उपयोगी होगा कि इससे पूर्व की रचनात्मक क्षमता की कुछ प्रमुख उपपत्तियों को एक साथ देख लिया जाये। पिछले व्याख्यान में हम नयी कविता और नवलेखन की विविध प्रक्रियाओं और उपलब्धियों का एक संक्षिप्त विश्लेषण कर चुके हैं। अब उसके आधार पर कुछ निष्कर्षों को समेट कर रख सकते हैं।

आधुनिक भावबोध के समग्र साहित्य की एक प्रमुख विशेषता उसका स्वचेतन होना है। परिवर्तन और विकास का प्रधान अंतर स्वचेतनता का है। परिवर्तन सहज है, विकास प्रयत्न साध्य है, और आधुनिकता विकास का स्वचेतन प्रयत्न है। मार्क्सवादियों ने इसी को कहा है इतिहास के चक्र को तेजी से चलाना। द्वन्द्वात्मकता (डायलैक्टिक) के सिद्धांत के अनुसार विकास तो संघर्ष में अपने आप ही होता चलता है, पर उस प्रक्रिया को द्रुततर करना यही आधुनिकता का लक्षण है। इतिहास का यह सजग प्रयोग कम्यूनिस्टों ने शायद सबसे पहले किया। रचना में भाषिक-विधान की आधुनिक चिंता अधिकतर इस स्वचेतनता का ही परिणाम है, जब लेखक रचना-प्रक्रिया के प्रति ही अधिक सजग हुआ है। युवालेखन में नयी कविता या नवलेखन की इस स्वचेतनता के प्रति विरोधी प्रतिक्रिया हुई है, जिसका विश्लेषण हम आगे करेंगे।

भाषिक प्रक्रिया में भी कई नये प्रयोग हुए। सूक्ष्म अनुभव की पकड़ के लिए मितकथन हमेशा ही सहायक रहा है। प्रसाद और निराला के श्रेष्ठ गीतों और अज्ञेय के अधिकतर कृतित्व में मितकथन या हल्की व्यंजना का प्रयोग देखा जा सकता है, जहाँ शब्द का समूचा अर्थ न ग्रहण कर उसकी कोई हल्की छाया ही उभरती है। मितकथन से आगे, अधिकतर आधुनिक चित्रकला के साक्ष्य पर, अमूर्तन और विरूपण की प्रक्रियाएँ नये साहित्य में शुरू हुई। पर भाषा के ऐसे प्रयोग कम ही रचनाकारों ने किए हैं। उदाहरण के लिए रघुवीरसहाय, लक्ष्मीकांत वर्मा, विपिन अग्रवाल के नाम लिये जा सकते हैं। भाषा के इस रूपांतरण ने नयी कविता और नवलेखन की संवेदना को क्रमशः रूपांतरित भी किया है। रघुवीरसहाय और विपिन में आक्रोश तथा तीखेपन की जगह अपेक्षया ठंडे और निरावेग स्वर ने ले ली, जहाँ आक्रमण की मुद्रा उतनी नहीं, जितनी समझने की है। यह गैररोमांटिक होने की प्रक्रिया वस्तुतः अज्ञेय से ही आरम्भ हो जाती है, यद्यपि नयी कविता के कई महत्त्वपूर्ण कवियों, जैसे मुक्तिबोध या लक्ष्मीकांत वर्मा में अनुभव का तीखापन बराबर होता है। यह जोड़ा जा सकता है कि सतत रचना-क्रांति के पक्षधर लक्ष्मीकांत ने भी अपने को रूपांतरित करने की कोशिश की है, और कुछ ठंडे स्वर वाली रचनाओं को "कुछ गलत कविताएँ" शीर्षक से 'कल्पना' में प्रकाशित किया, जो अब उनके नवीन संकलन "अतुकांत" में भी शामिल हैं। युवालेखन में इस प्रवृत्ति की भी प्रतिक्रिया हुई है।

अब युवालेखन के रूप को ही देखें। समकालीन साहित्य में नयी कविता के बाद कई प्रकार के रचना-आंदोलन उभरकर आये दिखायी देते हैं--भूखी-विद्रोही पीढ़ी, अन्यथावाद, अनर्थक अभिव्यक्ति के विभिन्न प्रकार तथा अकहानी और अकविता। इन सभी आंदोलनों के बीच हमारे युग की युवा पीढ़ी का विक्षोभ, आक्रोश और विद्रोह भाव मूल प्रेरक शक्ति के रूप में देखा जा सकता है। पर ऐसा लगता है कि यह विक्षोभ, आक्रोश और विद्रोह का भाव, तथा उसकी दिशा ठीक-ठीक परिभाषित नहीं की जा सकी है, समीक्षा के क्षेत्र में नहीं, स्वयं रचना के क्षेत्र में ही।

विक्षोभ और विद्रोह एक स्थिति के बाद रचनात्मक स्तर पर अपने लिए एक सीमा बना लेते हैं, क्योंकि तब लेखक की दृष्टि विद्रोह के आलंबन से पूरी तरह बँध जाती है, और स्वतंत्र ढंग से सोच पाना बाधित होता

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

है। इसलिए विद्रोह का अर्थ निरंतर परिवर्तनशील होते हुए भी मूलतः व्यक्तित्व को स्वाधीन भाव से परिचालित करना और होने देना है। इस स्वाधीन चिंतन और स्वतंत्र विकास में परंपरा और विद्रोह दोनों ही के पूर्वाग्रह आड़े आ सकते हैं। विद्रोह को परिभाषित करते रहने की प्रक्रिया इसीलिए महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि तभी लेखक सोच पाता है कि उसे स्वयं क्या कहना है। नयी कविता के अन्यतम कवि रघुवीरसहाय ने विद्रोह के इस ठंडे ढंग को और उसकी शक्ति को बखूबी पहिचाना था, जब उन्होंने कहा--

"यानी कि आप ही देखें कि जो कवि नहीं हैं।
अपनी एक मूर्ति बनाता हूँ और ढहाता हूँ।
और आप कहते हैं कि कविता की है।
क्या मुझे दूसरों की तोड़ने की फुरसत है ?"

पर युवालेखन में विद्रोह और आक्रोश का स्वर फिर प्रबल हो जाता है।

युवालेखन की एक मुख्य धारा अकविता का कोई अर्थ नहीं सिवा इसके कि वह कविता होने का परंपरागत ढंग से बिल्कुल अलग, एक नया जरिया है। यह नया ढंग स्पष्टतः कविता के प्रचलित कवितापन को छोड़कर कविता के कुछ नये शक्तिशाली उपकरणों की तलाश है। इस माने में "अकविता" नामकरण की संगति समझी जा सकती है। पर मूल प्रश्न यह है कि यह तलाश कहाँ तक सार्थक और संगत है।

इधर विकसित हुए रचना के कई नये आंदोलन अर्थ की संभावना से ही इनकार करते हैं। उनकी दृष्टि में मानव जीवन अपने आप में एक निरर्थक और बेमानी प्रक्रिया है--प्रक्रिया भी क्या, घटनाओं का एक ढेर है। पर वे भूल जाते हैं कि यदि मनुष्य जीवन का मूलतः अर्थहीन होना सच है, तो उतना ही बड़ा सच यह है कि मनुष्य इतर जीवधारियों से अलग एक बुद्धिसंपन्न प्राणी है। और यह बुद्धि अपनी प्रकृति से ही अर्थहीनता में भी अर्थ की सृष्टि करेगी। इस प्रकार अर्थहीनता मानवीय नियति नहीं है, वरन् अर्थ का सृजन करना मानवीय नियति है--और यदि आप मानें तो--दायित्व है। अतः साहित्य में यदि अनर्थक तत्त्व आता है तो वह पुराने, रँगे-चुँगे पारंपरिक अर्थ को ध्वस्त करके एक नया और बृहत्तर अर्थ सृजन करने के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है। स्वयं अपने लिए अनर्थकता का साहित्य में कोई स्थान नहीं, क्योंकि वह संभव ही नहीं है। भाषिक रचना के स्तर पर किसी कविता या कथा-कृति में बीच में कुछ अनर्थक शब्दों, पदों या वाक्यों का प्रयोग होता चले तब तो आमने-सामने होकर वह पारंपरिक अर्थ वाली भाषा का नवीकरण करता चलेगा, पर पूरी की पूरी रचना ही अनर्थक भाषा में हो तो साहित्य का तो संप्रेषण वहाँ विलुप्त हो जायेगा। चित्रकला भी बनेगी, इसमें संदेह है।

'अकविता' शीर्षक से प्रकाशित होने वाली पत्रिका के अंकों और कुछ स्वतंत्र अकविता संकलनों को देखकर लगता है कि कविता लेखकों की मुख्य दृष्टि यौन जीवन के प्रचलित और स्वीकृत रूपों पर है, और यह कि वे इन प्रचलित और स्वीकृत रूपों से पूरी तरह असंतुष्ट हैं। नैतिकता, अनैतिकता की बात तो अलग, क्योंकि यौन जीवन के प्रसंग में यह प्रश्न पहले जैसा महत्त्वपूर्ण नहीं रह गया है, अकविता के लेखक तो यौन जीवन के प्रति साधारण प्रचलित दृष्टिकोण के ही विरुद्ध हैं। इस प्रचलित दृष्टिकोण के अंतर्गत एक भाव यह रहा है कि जीवन के इस क्षेत्र को एक सीमा के बाद उजागर न किया जाये। यह मान्यता यौन जीवन के बारे में नहीं, सर्जन के प्रायः सभी क्षेत्रों के संबंध में रही है, और अब भी है। पर नये रचनाकार इस अनुभव-क्षेत्र के बारे में अधिक प्रगल्भ होना चाहते हैं।

उनकी तीव्र और क्रुद्ध दृष्टि की इस प्रसंग में दो बहुत बड़ी सीमाएँ हैं। एक का तो उल्लेख पहले किया जा चुका है--यानी अकविता के संसार में उसके विद्रोह का आलंबन, सेक्स या यौन जीवन ही सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व हो गया है। यौन जीवन से आक्रांत अकविता के इस रूप को देखकर पुराणकथाओं में वर्णित गौतम द्वारा

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh
अभिशप्त इंद्र का रूप स्मरण हो आता है। स्पष्ट ही मानव जीवन और यथार्थ की यह सर्वथा अतिरंजित या कि विकृत रूप है।

अकविता और इधर के कई अन्य आंदोलन यौन वर्णनों को खुलकर बखेर देने में ही रचना का संपन्न होना मानते हैं। यहाँ रचना-प्रक्रिया संबंधी एक दूसरी कठिनाई आती है कि कोई भी विषय अपने में कला नहीं हो सकता, यौन जीवन जैसे सतत आकर्षण और महत्त्वपूर्ण क्षेत्र का चित्रण भी नहीं। जीवन के कुछ क्षेत्र कला-सृष्टि के लिए अधिक अनुकूल और सुगम पड़ते हों, यह दूसरी बात है। पर यहाँ कला माध्यमों की प्रकृति का सूक्ष्म अंतर समझना होगा। यौन जीवन के अनुभव अपने विविध आकारों और गतिशीलता में सीधी तथा "प्रत्यक्ष" अभिव्यक्ति दृश्य कलाओं में अधिक संगति और सफलता के साथ पाते हैं। खंजुराहो का स्थापत्य, ग्रीक मूर्तियाँ और फ्रेंच चित्रकला की निर्वसनाएँ इसका प्रमाण हैं, जहाँ मानव शरीर को उत्सव—और कभी-कभी विभीषिका के रूप में भी—अंकित किया गया है। पर यौन जीवन के संदर्भ में सीधा शब्द प्रयोग अश्लीलता को जन्म देता है, क्योंकि वह अनुभव को सतह पर उघारता है, संप्रेषित नहीं करता। साहित्य में रचनात्मक तनाव का संप्रेषण सीधी भाषा से नहीं होता, उसके लिए प्रतीक, बिंब या किसी भी अन्य माध्यम से व्यंजित होना जरूरी है। अकविता के लेखक सिद्धांत रूप में और व्यवहार में सीधी अभिव्यक्ति को ही महत्त्व देते हैं। साहित्य, विशेषतः कविता में, यौन जीवन के अनुभव सीधे अंकित होने में उस निरंतर विकसनशील अर्थ सृष्टि का माध्यम नहीं बनते, जो लाक्षणिक और बिंबात्मक प्रयोगों द्वारा संभव होती है। और इस अर्थ की संभावना के अभाव में जीवन, और उसका सबसे यथार्थ तथा महत्त्वशाली प्रतिरूप साहित्य, दोनों ही बेमानी हो जाते हैं, अनर्थक रूप में अनर्थक, जिसका संप्रेषण तब न आवश्यक होगा और न संभव ही।

किसी भी नये साहित्यिक आंदोलन के सहयोगियों को यह शिकायत हो सकती है, होती है, कि उनके समकालीन उस नवोन्मेष को ग्रहण करने में समर्थ नहीं, जो उनके माध्यम से रूपायित हो रहा है। पर इस तरह की सजगता पाठक या समीक्षक के मन में एक अतिरिक्त सहानुभूति का भाव भी जाग्रत कर सकती है, जो अपने आप में रचना के सही आस्वादन या मूल्यांकन में बाधा साबित हो। इस दृष्टि से उचित यही है कि बिना किसी दया या चिढ़ का भाव लिये पाठक और समीक्षक अपने आप को रचना के प्रति उन्मुख और खुला रक्खे, उसी तरह जैसे रचनाकार अपने को अनुभव के प्रति खुला रखता है। इससे अधिक माँग, मैं समझता हूँ कि अकविता के लेखक अपने पाठकों से नहीं करेंगे, पर यह दायित्व भी उन्हीं का है कि वे पाठक को अपाठक न होने देंगे।

युवालेखन की इन धाराओं में नयी कविता के प्रति घोषित रचनात्मक प्रतिक्रिया और विरोध मिलता है, यह मैं कह चुका हूँ। नयी कविता ने जिस रोमांटिक ढंग से आवेग को ठंडेपन में रूपांतरित किया था, उसे युवालेखन ने तिरस्कृत करके फिर से आक्रोश और तीखेपन की भाषा शुरू की है। अपनी इस आक्रामकता को उन्होंने अधिकतर सेक्स के खुले चित्रण के सहारे सिरजा है, और इस तरह अपनी समझ से उन्होंने पूरे समाज पर हल्ला बोल दिया है। इसी प्रकार नयी कविता और नवलेखन की स्वचेतनता को भी उन्होंने भुलाने की कोशिश की है। स्वचेतनता से त्राण पाने के लिए कई प्रकार की मादक औषधियों का आविष्कार हुआ है, जो अमरीका के बीटनिकों और हिप्पियों के साथ-साथ भारत में भी कहीं-कहीं प्रचलित हुई हैं। यही नहीं स्वचेतनता को डुबोने के लिए उन्होंने साहित्य में सेक्स का चित्रण भी, इन मादक औषधियों की तरह ही किया है। दशकों पूर्व के अतियथार्थवाद का "स्वतः चालित लेखन" उनकी प्रकृति के अधिक अनुकूल पड़ता। पर समकालीन प्रविधि-प्रधान समाज की अतियांत्रिकता और अतिबौद्धिकता से बचने के लिए ये पलायनवादी रास्ते हैं, क्योंकि जड़ता को सनसनी से कभी नहीं जीता जा सकता। इस अतियांत्रिकता के खतरे से उबरने के लिए मानवीय व्यक्तित्व के अनुभव और उसकी सर्जनात्मकता को गहरा करना होगा, जो नयी कविता की मूल दिशा रही है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
और अतिबौद्धिकता का हमारे देश में कोई खतरा है ही नहीं, खतरा है तो अबौद्धिकता का। पश्चिम के संपन्न समाज में कई शताब्दियों से व्यवस्था और तर्क का बोलबाला रहा है। उस व्यवस्था और तर्क के बंधनों की प्रतिक्रिया में यदि वहाँ के नवयुवकों में योग और अनुभवपरक साधनाओं का आकर्षण बढ़े, तो यह समझा जा सकता है। इस दिशा में अमरीका और योरोप के अनेक युवालेखकों ने भारतीय गुह्य तांत्रिक साधनाओं से और कीर्तन से प्रेरणा ली है। पर यदि भारत जैसे गरीब और पिछड़े देश में भी इस देखादेखी में तर्क, बुद्धि और विज्ञान का विरोध होने लगता है तो यह न राष्ट्रीय जीवन के हित में है और साहित्य के हित में तो तब हो ही कैसे सकता है ? युवालेखन का आवेश अभी इन समस्याओं को पहचानना नहीं चाहता।

इस प्रसंग में युवालेखन की जो ऐतिहासिक ढंग की कुछ जाँच पड़ताल हुई है, उसका भी परीक्षण यहाँ आवश्यक है। 'आलोचना' पत्रिका के नये दौर के पहले संपादकीय में नामवर सिंह ने समकालीन लेखन की प्रकृति के संबंध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है। युवालेखन की अराजनैतिक दृष्टि, पर उसमें मिलने वाली "देह की राजनीति" का विश्लेषण करते हुए वे इसे नयी कविता से उत्पन्न एक आवश्यक परिणति के रूप में देखते हैं। "तुम खुद" शैली के उपयोग से संकुचित होते हुए भी कहना चाहूँगा कि नामवर सिंह, जो नयी कहानी के प्रमुख पुरस्कर्त्ता रहे हैं, जिरह को काफी कुशल और संवेदनशील ढंग से चलाते हुए भी निष्कर्ष को शायद जान-बूझकर विकृत रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं। समकालीन लेखन की जिस शरीरवादी परिणति का उन्होंने जिक्र किया है वह नयी कविता से न जुड़ कर सीधे और स्पष्ट रूप में नयी कहानी से जुड़ती है।

युवालेखन में सेक्स के खुले उपयोग की चर्चा मैंने पहले की है। नामवर सिंह के संपादकीय में बहस को चलाने के लिए इस संदर्भ में केन्द्रीय मुहावरा "देह की राजनीति" रक्खा गया है, जिसे यहाँ उन्होंने धर्मवीर भारती के एक लेख से लिया है। भारती और नामवर सिंह के संवाद में यह मुहावरा वस्तुस्थिति को एक स्तर पर निश्चय ही बखूबी व्यक्त करता है। जहाँ तक मुझे स्मरण है यह प्रयोग "देह की राजनीति" राजकमल चौधरी की रचना 'मुक्तिप्रसंग' से चलता है--"देह की राजनीति करती थी मंजू हालदार" तथा लाक्षणिक और बिंबात्मक रूप में बड़ा सुगठित प्रयोग है। शरीर की भंगिमाओं को व्यक्त करने के लिए "राजनीति" शब्द को इस संदर्भ में लाना भाषिक प्रयोग का एक अच्छा उदाहरण है। इतने बढ़िया और निर्दोष प्रयोग का एक अवांछनीय साहित्यिक प्रवृत्ति के प्रतीक-रूप में व्यवहृत होना कुछ अन्याय-सा लगता है। यहाँ स्पष्ट कर दूँ कि राजकमल चौधरी प्रभृति की रचनाओं की कई एक उन्हीं कारणों से मैं भी आलोचना कर रहा हूँ, जिनका उल्लेख धर्मवीर भारती और नामवर सिंह के लेखों में हुआ है। पर संदर्भ में सटीक बैठने पर भी (होने नहीं, 'बैठने') "देह की राजनीति" जैसे सर्जनात्मक प्रयोग के माध्यम से समकालीन लेखन में सेक्स के सपाट और असर्जनात्मक उपयोग की चर्चा करना मुझे असंगत जान पड़ता है।

नयी कविता ने शरीर के अनुभवों को वैसे सीधे-सुखद रूप में अंकित नहीं किया, जैसा कि बाद में नयी कहानी ने अपने ब्योरेवार वर्णनों में किया है। नयी कविता ने साहित्य रचना की प्रकृति के अनुकूल ही अनुभव को उसकी समूची संश्लिष्टता में ग्रहण करना चाहा है, जब कि नयी कहानी ने सेक्स अनुभवों को सीधे गुदगुदी पैदा करने के लिए-या कई अन्य आंदोलनों ने गुदगुदी और वितृष्णा दोनों को जगाने के लिए--प्रायः व्यावसायिक पेशेवर स्तर पर स्वीकार किया है। अजंता गुफा की निर्वसना और फ़िल्म पोस्टर की निर्वसना में मूल अंतर कलाकार के अनुभव के प्रकार का ही है, अन्यथा ऊपरी ढंग से देखने पर तो एक निर्वसना और दूसरी निर्वसना में कोई अंतर नहीं होना चाहिए। नामवर सिंह ने भारती की कविता में "रेशमी फूलों की ओट" की चर्चा की है, और कहा है, "जिस्म की गरमाई" वहाँ भी थी लेकिन रेशमी फूलों की ओंट में। नयी पीढ़ी ने उस रेशमी ओट को हटा भर दिया है। क्या इतने से ही वह विरूप और गलीज़ हो गयी ?" पर यहाँ, "आलोचना" के संपादक ने स्थिति का अतिसरलीकरण किया है। रेशमी फूलों की ओट हटाना वैसा "भर" नहीं है

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जैसा कि नामवर सिंह प्रदर्शित कर रहे हैं। प्रश्न यहाँ यह नहीं है कि ओट हो या कि नहीं, अथवा हो तो रेशमी हो या कि टाट की हो। मूल बात है अनुभव के जटिल और संश्लिष्ट होने की। शरीर के उपभोग से अधिक नंगा और बेलौस कुछ नहीं, पर इस उपभोग का सीधा और एकांतिक अनुभव किसी बाल-बुद्धि के व्यक्ति को हो तो भले हो, क्योंकि केवल इंद्रिय-बोध (सेंसेशन) के स्तर का अनुभव सिर्फ़ शैशव में ही संभव है। अमृतलाल नागर ने अपने नये उपन्यास 'अमृत और विष' में एक इस तरह का अंकन किया है, जहाँ शरीर का अनुभव एक व्यक्ति के साथ है, उसी समय कल्पना में यह अनुभव दूसरे के साथ चल रहा है, और जब रानी के नेत्रों में यह चरित्र एक चरम कृतज्ञता का भाव देखता है, तो मन ही मन अपने को अपराधी भी महसूस करता है। तो शरीर के बेशुमार स्तर के इन अनुभवों को सीधे "प्रत्यक्ष" ढंग से संप्रेषित नहीं किया जा सकता, जैसा कि नयी कविता के परवर्ती लेखन में करने की कोशिश होती रही है। भारती की कविता में "रेशमी फूलों की ओट" नैतिकता के भय से न होकर अर्थ और अनुभव में एक तनाव और संश्लिष्टता उत्पन्न करने के लिए है। अतः उसे हटाना, उस पूरे अनुभव की जटिलता को समाप्त कर देना है। इतने मौलिक और गुणात्मक अंतर को एक निर्दोष और भोले-से लगने वाले "भर" से नामवर सिंह नहीं ढाँक सकते।

'अमृत और विष' के एक प्रसंग का उल्लेख अभी किया गया। 'नदी के द्वीप' में भुवन और रेखा का प्रणय-प्रसंग भी अनुभव के संश्लिष्ट रूप में देखा जा सकता है। ऐसा नहीं है कि यौन जीवन के इससे अधिक खुले अंकन कलात्मक और रचनात्मक स्तर पर संभव नहीं हैं। पर जैसा पहले कहा गया, शरीर की प्रक्रियाओं के गतिशील और समग्र चित्रण मूर्ति और चित्रकला जैसी दृश्य विधाओं में जितना संभव हैं, उतना शब्दों की कला साहित्य में नहीं। और "मेरा हमदम मेरा दोस्त" के अनौपचारिक, याराना वातावरण वाली नयी कहानी में तो और भी नहीं। नयी कहानी तथा इसी वर्ग के अन्य रचना विधानों में शरीर का अनुभव वैसा ही सरल, अल्हड़ और इंद्रियबोधी (सेंसेशनल) है, जैसे कि एक शिशु के लिए नारी यौवन का आकर्षण। नयी कहानी के एक बहुचर्चित रचनाकार कमलेश्वर का दावा है कि "जीवन में जो कुछ दिखायी पड़ता है, उसे बगैर किसी लाग-लपेट के बगैर फुलकारी किये हुए बगैर प्रतीक और बिंबों के 'डायरैक्टली' जितना कहा जा सके कहने की कोशिश की जाये और अपनी सच्चाई को कहा जाये।" जीवन और रचना के प्रति इस शिशु-सुलभ और अल्हड़--और यदि ठीक-ठीक ही कहा जाये तो अबौद्धिक--दृष्टिकोण ने परवर्ती हिंदी लेखन के मिजाज़ को किसी सीमा तक बनाया है, जिसे लेकर धर्मवीर भारती और नामवर सिंह तथा कुछ अन्य भी, अपने-अपने ढंग से चिंतित हैं। इस माने में नयी कविता और नयी कहानी में "नयी" पद ऊपर से एक-सा दिखने पर भी दोनों की विरोधी रचना प्रवृत्तियों के अंतर को झुठला नहीं सकता। नयी कविता ने बराबर अनुभव की संश्लिष्टता और समग्रता पर बल दिया है, जब कि नयी कहानी अनुभव के सीधेपन को 'डायरैक्टली' कहना चाहती है। यहाँ पूछा जा सकता है कि साहित्य में यदि वही अंकित करना है, जैसा जो कुछ जीवन में दिखायी पड़ता है, तो फिर साहित्य की आवश्यकता ही क्या है, क्योंकि जीवन तो सभी के पास देखने के लिये सुलभ है। साहित्य तो वस्तुतः अनुभव का सतत अन्वेषण और पुनरन्वेषण है, उन संबंध-सूत्रों की तलाश है, जिन्हें सामान्यतः जीवन में देखा-पहिचाना नहीं जा पाता।

यह नयी कहानी ही आगे चलकर अकविता को जन्म देती है। अभिव्यक्ति की संश्लिष्टता नहीं, कहने का सीधापन दोनों में समान रूप से मिलता है। "सातवें दशक की कविता को नयी सभ्यता विरासत में मिली है, इसलिए उसके प्रति विमोह की स्थिति अकविता में नहीं है। उसकी अभिव्यक्ति सीधी तथा प्रभावपूर्ण है—" 'अकविता'–5। इसीलिए अकविता का रचना के स्तर पर संबंध नयी कविता से न होकर नयी कहानी से है। अकविता में नयी कहानी या कि आगे चलकर सचेतन कहानी और अकहानी के विषयों को कविता के ढाँचे में बैठाने की कोशिश की गयी है। यह अकारण नहीं है कि अकविता और सचेतन कहानी का लेखक वर्ग अधिक-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh
तर एक ही है। वस्तुतः तो नयी कहानी की सीधी-सरल अनुभव प्रक्रिया से ही युवालेखन के अनेक रूप विकसित हुए हैं––अकविता, सचेतन कहानी, भूखी पीढ़ी और युयुत्सावादियों का साहित्य। और नामवर सिंह हैं कि इस सबको प्रोत्साहित करने के बाद इसका दायित्व नयी कविता के नाम मढ़ना चाहते हैं। आख़िर नयी कहानी से उत्पन्न इस सृष्टि को अपनाते उन्हें संकोच क्यों है ? जहाँ तक नयी कविता का प्रश्न है, वह अपने ढंग से गतिशील है, और कुछ लेखकों ने उस क्रम में नये नाटक को भी विकसित करने का यत्न किया है। इस विषय की चर्चा हम लोग दूसरे व्याख्यान के अंतर्गत कर चुके हैं।

यह बिलकुल ठीक है कि समकालीन युवालेखन के तिरस्कार से कोई भी बात नहीं सुलझ सकती। जिन कुछेक कवियों-समीक्षकों ने तिरस्कार और भर्त्सना का स्वर अपनाया है, उन्होंने नये प्रयोगों की संभावना को पर्याप्त समय न देकर अपने निष्कर्षों में जल्दबाज़ी की है, और अपनी दृष्टि को संकीर्ण कर लिया है। पर वर्तमान स्थिति का सही-सही मूल्यांकन करने के लिए ज़रूरी है कि हम उसके रचना विकास का ठीक-ठीक विश्लेषण करें। नामवर सिंह द्वारा वर्तमान रचना स्थिति के मूल्यांकन का प्रश्न उठाया जाना, और उसके लिए चिंता, सहानुभूति, और सद्भाव की अभिव्यक्ति सही क़दम है। पर उस स्थिति के विश्लेषण में उन्होंने एक तरह की चालाकी बरती है, और समस्या के विवेचन को लगभग उस स्तर पर लाकर खड़ा कर दिया है, जहाँ कि सरकार और प्रतिपक्ष एक दूसरे पर दोषारोपण करते हों कि भूख को राजनैतिक दाँव-पेंच के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है और कि सूखा से उत्पन्न विभीषिका के लिए ज़िम्मेदार कौन है ? आवश्यकता इस बात की है कि समकालीन लेखन में राजनीति अनुभव का अंग होकर आये, केवल व्यावहारिक आचरण के स्तर पर ही परिचालित न की जाती रहे।

युवालेखन के इन विविध रूपों में क्या कुछ सार्थक भाव से रचा जा सका है, इसके बारे में अभी कुछ ठीक-ठीक कहना कठिन है। पूरे परिदृश्य पर प्रवाह की इतनी तेज़ी है कि कहीं कुछ नामों का ठहर पाना और उभर पाना संभव नहीं हो रहा है। फिर भी राजकमल चौधरी का उल्लेख किया जा सकता है, जिन्होंने कई माध्यमों में अपनी बात को सशक्त ढंग से कहने की कोशिश की है। यदि उनके जीवन वृत्त को––जो खेद है कि असमय में ही समाप्त हो गया––उनके साहित्य से मिलाने का प्रयत्न न किया जाये, तो भी उनका कृतित्व क्षमतापूर्ण दिखायी देता है। 'मुक्तिप्रसंग' और 'कंकावती' तथा उनके कई उपन्यास समकालीन जीवन की मरोड़ और बेचैनी का तीखा एहसास कराते हैं। पर उनकी प्रतिभा का मूल रूप कविता में ही दिखायी देता है। कवियों में धूमिल के प्रयोग भी छोटी-बड़ी पत्रिकाओं में ध्यान आकृष्ट करते हैं। उनमें भाषिक सर्जन की प्रवृत्ति अपेक्षया अधिक है। मुद्राराक्षस, जो युवालेखन से कुछ पहले ही से लिख रहे हैं, लक्ष्मीकांत वर्मा की तरह कहीं रुकना नहीं चाहते। अपनी सारी बौद्धिक साज-सज्जा के साथ उनके पास कहने के लिए काफ़ी-कुछ महत्त्वपूर्ण है, जिसे उन्होंने कई माध्यमों में कहा है। शुद्ध वैचारिक स्तर पर भी उनका चिंतन साहित्य की नवीनतम प्रवृत्तियों के साथ-साथ चलता है।

यद्यपि इतने तीव्र प्रवाह में गोता लगाकर कुछ निकाल पाना कठिन है, पर प्रवाह को प्रवाह के रूप में देख पाना भी एक अनुभव है। और न इसके लिए कुछ भविष्यवाणी करना है कि युवालेखन की क्या उपलब्धि होगी ! आलोचक में न इसकी शक्ति है, जो स्थिति अपने में उसके लिए बहुत काम्य है, और न ही वह इसकी ज़रूरत महसूस करता है। समकालीन युवालेखन तथा छात्र-आंदोलन अनियोजित तथा अपने में ही बेचैन होती हुई शक्ति के प्रदर्शन हैं। इस शक्ति का हम सब मिलकर क्या बना पाते हैं––कम से कम बनाने के लिए कैसा वातावरण प्रस्तुत कर पाते हैं––यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इन्हें सहानुभूति चिढ़ा सकती है, इनके प्रति अधिक से अधिक समझ का भाव विकसित करके ही हम युवा शक्ति और अपने प्रति भी न्याय कर सकते हैं।

अंत में अत्यन्त विनयपूर्वक मैं आप सब के प्रति आभार प्रदर्शित करना चाहूँगा कि आपने मुझे इस बात के लिए अनुमति दी कि अपनी समझ और अपने विभ्रम दोनों में आपको मैं साझीदार बना सकूँ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संक्षिप्त ग्रथ-सूची

कविता

अंधा युग : धर्मवीर भारती (1955)
चाँद का मुँह टेढ़ा है : गजानन माधव मुक्तिबोध (1964)
सीढ़ियों पर धूप में : रघुवीरसहाय (1960)
आत्महत्या के विरुद्ध : रघुवरसहाय (1967)
अतुकांत : लक्ष्मीकांत वर्मा (1968)
धुएँ की लकीरें : लक्ष्मीकांत वर्मा, विपिनकुमार अग्रवाल (1956)
फूल नहीं, रंग बोलते हैं : केदारनाथ अग्रवाल (1965)
कुछ कविताएँ : शमशेरबहादुर सिंह (1959)
कुछ और कविताएँ : शमशेरबहादुर सिंह (1961)
आधुनिक कवि भाग–१३ : बालकृष्ण राव (1967)
शिला पंख चमकीले : गिरिजाकुमार माथुर (1961)
अनुक्षण : प्रभाकर माचवे
शहर अब भी संभावना है : अशोक वाजपेयी (1966)
मायादर्पण : श्रीकांत वर्मा (1967)
काठ की घंटियाँ : सर्वेश्वरदयाल सक्सेना (1959)
आत्मजयी : कुँवरनारायण (1965)
तार सप्तक : सं० अज्ञेय (1943)
दूसरा सप्तक : सं० अज्ञेय (1951)
तीसरा सप्तक : सं० अज्ञेय (1959)
आँगन के पार द्वार : अज्ञेय (1961)
आज के लोकप्रिय हिंदी कवि—अज्ञेय : सं० विद्यानिवास मिश्र (1963)
नयी कविता (अंक 1-8): सं० जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी; जगदीश गुप्त, विजयदेवनारायण साही
मुक्तिप्रसंग : राजकमल चौधरी (1966)

उपन्यास

शेखर—एक जीवनी (2 भाग) : अज्ञेय (1940–1944)
नदी के द्वीप : अज्ञेय (1951)
अपने-अपने अजनबी : अज्ञेय (1961)
सूरज का सातवाँ घोड़ा : धर्मवीर भारती (1952)
खाली कुर्सी की आत्मा : लक्ष्मीकांत वर्मा (1958)
बाहर-भीतर : देवराज
अजय की डायरी : देवराज (1960)
यह पथ बंधु था : नरेश मेहता (1962)
वे दिन : निर्मल वर्मा (1964)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अर्थहीन : रघुवंश (1962)
मैला आँचल : फणीश्वरनाथ 'रेणु' (1954)
द्वाभा : प्रभाकर माचवे (1955)

कहानी

सीढ़ियों पर धूप में : रघुवीरसहाय (1960)
काठ का सपना : गजानन माधव मुक्तिबोध (1967)

यात्रा-संस्मरण

अरे यायावर रहेगा याद : अज्ञेय (1953)
एक बूंद सहसा उछली : अज्ञेय (1960)
हरी घाटी : रघुवंश (1961)
आखिरी चट्टान तक : मोहन राकेश (1953)
चीड़ों पर चाँदनी : निर्मल वर्मा (1964)

समीक्षा

नयी कविता का आत्मसंघर्ष : गजानन माधव मुक्तिबोध (1964)
एक साहित्यिक की डायरी : गजानन माधव मुक्तिबोध (1964)
मानव मूल्य और साहित्य : धर्मवीर भारती (1960)
त्रिशंकु : अज्ञेय (1954)
आत्मनेपद : अज्ञेय (1960)
नयी कविता के प्रतिमान : लक्ष्मीकांत वर्मा (1957)
नये प्रतिमान पुराने निकष : लक्ष्मीकांत वर्मा (1966)
कविता के नये प्रतिमान : नामवर सिंह (1968)
साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य : रघुवंश (1963)
नयी कविता : नये कवि : विश्वम्भर 'मानव' (1968)
प्रतिक्रियाएँ : देवराज
हिंदी नवलेखन : रामस्वरूप चतुर्वेदी (1960)
भाषा और संवेदना : रामस्वरूप चतुर्वेदी (1964)
अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या : रामस्वरूप चतुर्वेदी (1968)

नाटक

1. **मादा कैक्टस** : लक्ष्मीनारायण लाल (1957)
2. **सुबह के घंटे** : नरेश मेहता (1956)
3. **आदमी का जहर** : लक्ष्मीकांत वर्मा (1957)
4. **कारवाँ** : भुवनेश्वर
5. **तीन अपाहिज** : विपिन अग्रवाल (1969)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh